विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक ५ मई २००१ मूल्य रु. ५.००
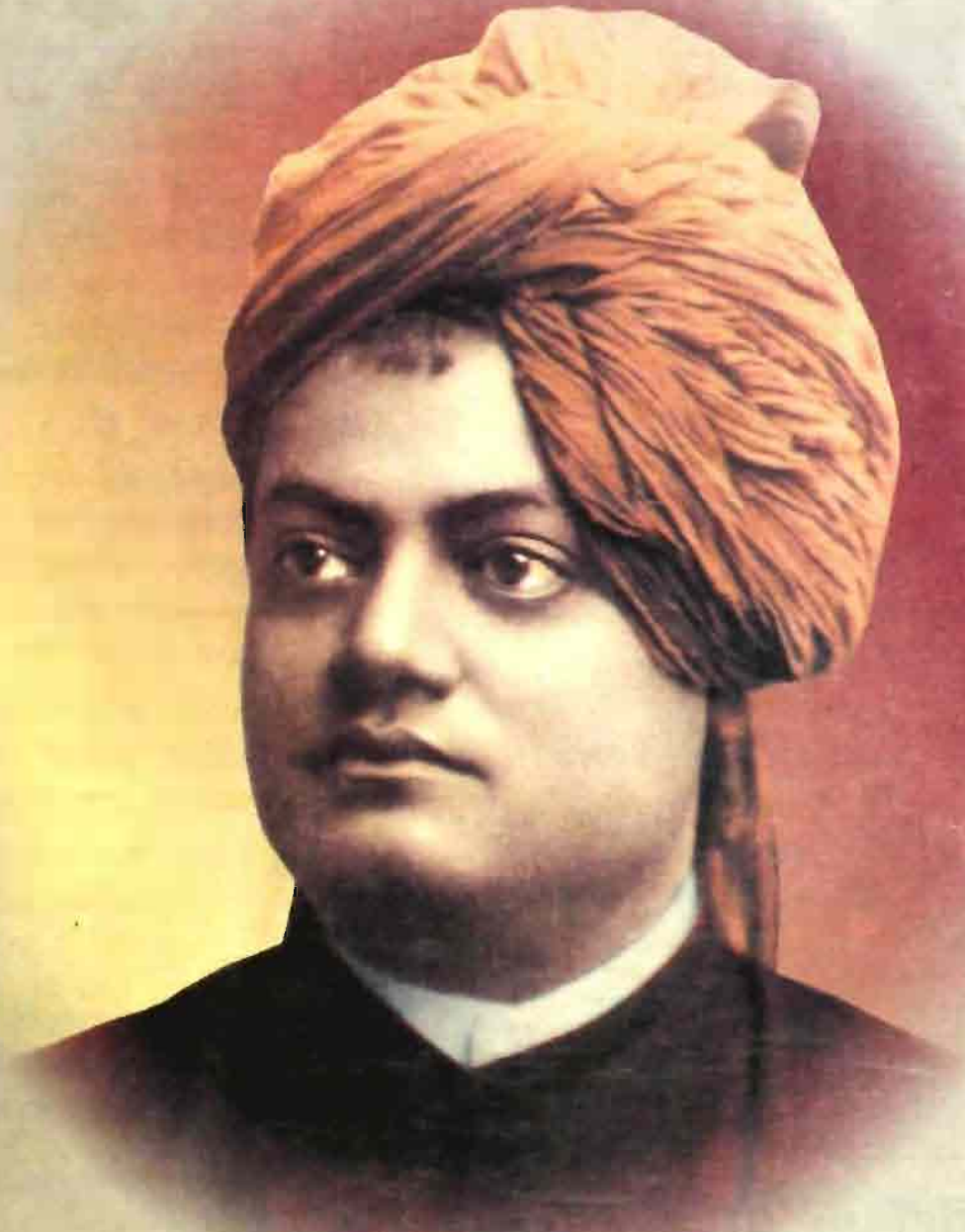
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

कुछ लोग जन्मजात महान होते हैं ...
और कुछ अपने कार्यों से महान बनते हैं ॥
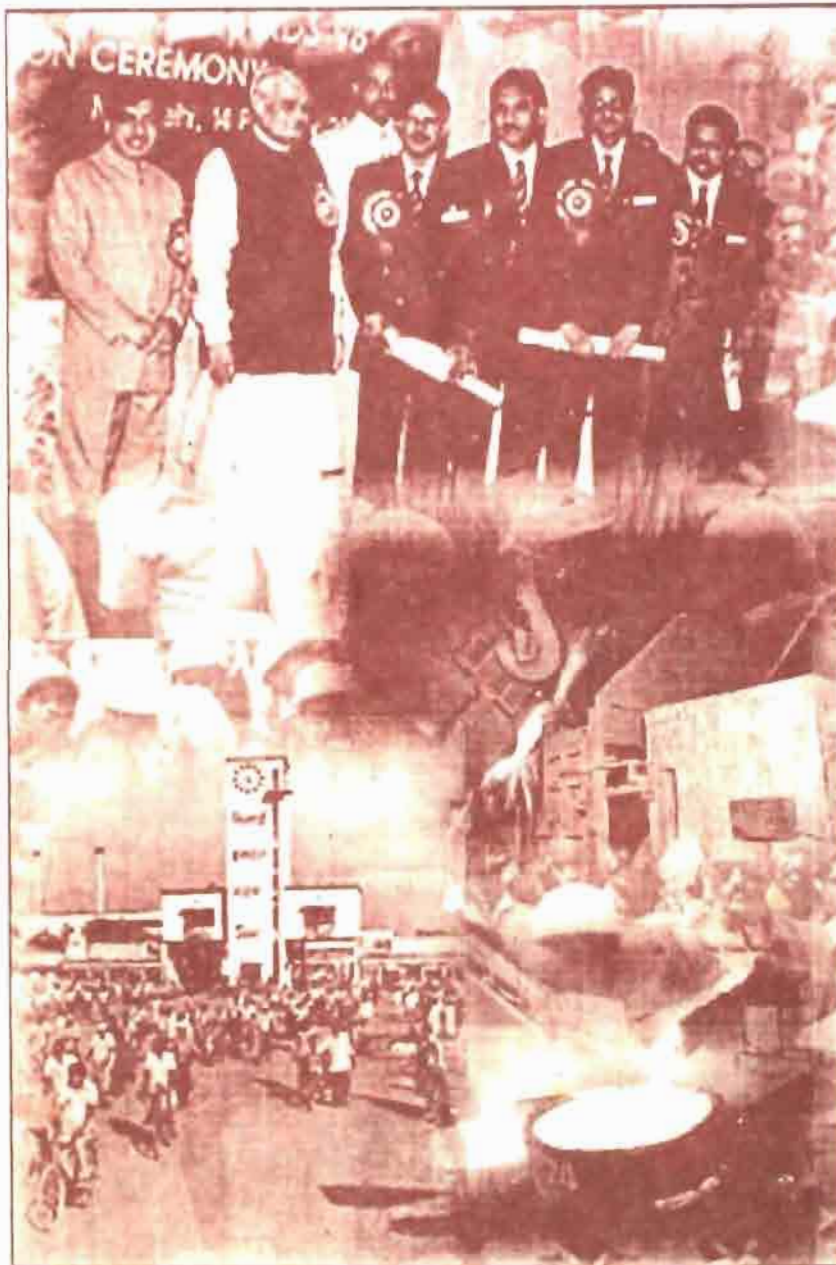
- देश के श्रमिकों के लिये सर्वोच्च पुरस्कार श्रम रत्न पुरस्कार के नौ विजेताओं में आठ भिलाई में कार्यरत हैं।
- भिलाई के श्रेष्ठतम औद्योगिक संबंध वाले माहौल का यह बेहतरीन उदाहरण है कि पिछले एक दशक से यहाँ औद्योगिक संबंधों से जुड़े मुद्दे पर एक भी कार्य दिवस की हानि नहीं हुई।
- भिलाई के इस्पात कर्मियों ने पिछले सात वर्षों में छः बार भारतीय राष्ट्रीय सुझाव योजना एसोसियेशन (इनसान) का पुरस्कार जीता है।
- भिलाई की सभी प्रमुख उत्पादक इकाइयों को आई एस ओ-9002 प्रमाणपत्र प्राप्त हो चुका है।
- भिलाई पाँच वर्षों में चार बार देश के सर्वश्रेष्ठ एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में प्रधानमंत्री ट्राफी भी जीत चुका है।

हम सर्वोत्तम इस्पात बनाते हैं...

हम सर्वोत्तम इस्पात कर्मी भी बनाते हैं।

हर किसी की जिंदगी से जुड़ा हुआ है सेल

स्टील अथॉरिटी ऑफ इंडिया लिमिटेड

भिलाई इस्पात संयंत्र

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक ५

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ५/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. ७००/-

विदेशो में (समुद्री डाक से) ५० डॉलर (हवाई डाक से) १५० डॉलर

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष · २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

१. नीति-शतकम् (भर्तृहरि) १९५
२. गीति-वन्दना ('विदेह') १९६
३. व्यक्तित्व का विकास (१) (स्वामी विवेकानन्द) १९७
४. धन्य वही मन (कविता) (डॉ. भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश') २००
५. मानस-रोगों से मुक्ति (८/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) २०१
६. चिन्तन-६३ (आत्मविश्वास) (स्वामी आत्मानन्द) २०६
७. माँ के सान्निध्य में (६९) (श्रीमती सरलाबाला देवी) २०७
८. जीना सीखो (१७) (स्वामी जगदात्मानन्द) २०९
९. ईसप की नीति-कथाएँ (१७) २१३
१०. स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (५) (स्वामी विदेहात्मानन्द) २१५
११. आत्मनिरीक्षण (स्वामी सत्यरूपानन्द) २१८
१२. आचार्य रामानुज (१७) (स्वामी रामकृष्णानन्द) २१९
१३. एक विद्यार्थी के नाम पत्र (२) (स्वामी पुरुषोत्तमानन्द) २२२
१४. भारतीय इतिहास पर नवीन दृष्टि (३) (नवरत्न राजाराम) २२५
१५. वैराग्य या अनासक्ति (स्वामी भजनानन्द) २३०
१६. समाचार और सूचनाएँ २३६

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय वन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस सयत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल ससाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यन्त्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

वर्ष ३९ | मई २००१ | अंक ५

नीति-शतकम्

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः सम्भाविताः पञ्चषा-
स्तान् प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ।
द्वावेव ग्रसते दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ
भ्रातः! पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥३४॥

अन्वयः – (भो) भ्रातः! पश्य, बृहस्पतिप्रभृतयः अन्ये अपि पंचषाः सम्भाविताः सन्ति; (तथापि) विशेषविक्रमरुचिः शीर्षावशेषाकृतिः दानवपतिः एषः राहुः तान् प्रति न वैरायते, भास्वरौ द्वौ दिवाकर-निशा-प्राणेश्वरौ एव पर्वणि ग्रसते ॥

भावार्थ – हे भाई! देखो, आकाश में बृहस्पति आदि और भी पाँच-छह ग्रह हैं, परन्तु विशेष पराक्रम दिखाने का इच्छुक, जिसकी सिर मात्र ही आकृति रह गयी है, ऐसा दावनराज राहु उनके प्रति वैरभाव नहीं रखता। वह तो तेजस्वी सूर्य तथा चन्द्रमा को ही पर्व के दिन ग्रसता है। तात्पर्य यह कि अहंकारी व्यक्ति दुर्दशाग्रस्त होने पर भी प्रतिष्ठित लोगों पर ही अपनी शक्ति दिखाने का प्रयास करता है।

वहति भुवनश्रेणिं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते ।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह! महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥३५॥

अन्वयः – शेषः फणाफलकस्थितां भुवनश्रेणिं वहति, स च कमठपतिना सदा मध्येपृष्ठं धार्यते, तम् अपि पयोधिः अनादरात् क्रोडाधीनं कुरुते । अहह! महतां चरित्र-विभूतयः निःसीमानः ॥

भावार्थ – शेषनाग अपने फनों रूपी पटरे पर स्थित लोकों का वहन करते रहते हैं। उन शेषनाग को भी कूर्म सदा अपनी पीठ के बीच में धारण किये रहते हैं। उनको भी समुद्र सहज भाव से अपनी गोद में धारण लिये रहता है। अहो! महान् लोगों के चरित्र की महिमा असीम होती है।

– भर्तृहरि

देश-गीत

(द्विजेन्द्र लाल राय के सुप्रसिद्ध बंगला गीत
'धन-धान्य पुष्प भरा' का भावानुवाद)

धन-वैभव से, फल पुष्पों से, भरा हुआ जग सारा ।
उसमें है यह देश अनोखा, सब देशों से न्यारा;
सपनों से यह जड़ा हुआ, स्मृतियों ने इसे सँवारा ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह औ तारे; ऐसे कहाँ चमकते सारे,
कहाँ दमकती विद्युत् से, आलोकित बादल कारे;
सुनते चिड़ियों का मधु कलरव, उगते दिवस हमारे ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

भला कहाँ ऐसी हैं नदियाँ, पर्वत इतने ऊँचे?
कहाँ खेत की यह हरीतिमा, अम्बर को भी खींचे?
पौधों पर करती अठखेली, कहाँ वायु की लहरें ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

लदी हुई पुष्पों से शाखें, कूँजें पक्षी खोले पाखें,
दौड़ दौड़ आते झुण्डों में, गुंजन करते मधुकर,
फूलों पर ही सो जाते हैं, फूलों का रस पीकर ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

माँ-भाई का प्रेम अनोखा, कहाँ मिलेगा इतना,
दोनों चरण तुम्हारे माँ, मुझको निज हृदि में रखना;
इस माटी में जन्म हुआ है, इसमें ही है मरना ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

– *विदेह*

व्यक्तित्व का विकास (१)

स्वामी विवेकानन्द

(व्यक्तित्व का विकास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है और आज के युग मे तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। मैसूर के रामकृष्ण आश्रम से स्वामीजी के व्यक्तित्व-निर्माण विषयक उक्तियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। यहाँ पर हम उसी पुस्तिका की भूमिका तथा अनुवाद का क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

भूमिका

व्यक्तित्व क्या है?

अंग्रेजी के कैम्ब्रिज अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोश के अनुसार 'आप जिस प्रकार के व्यक्ति हैं, वही आपका व्यक्तित्व है और वह आपके आचरण, संवेदनशीलता तथा विचारों से व्यक्त होता है।' लांगमेन के शब्दकोष के अनुसार 'किसी व्यक्ति का पूरा स्वभाव तथा चरित्र' ही व्यक्तित्व कहलाता है।

कोई व्यक्ति कैसा आचरण करता है, महसूस करता है और सोचता है; किसी विशेष परिस्थिति में वह कैसा व्यवहार करता है – यह काफी कुछ उसकी मानसिक संरचना पर निर्भर करता है। किसी व्यक्ति की केवल बाह्य आकृति या उसकी बाते या चाल-ढाल उसके व्यक्तित्व के केवल छोर भर हैं। ये उसके सच्चे व्यक्तित्व को प्रकट नही करते। व्यक्तित्व का विकास वस्तुत: व्यक्ति के गहन स्तरों से सम्बन्धित है। अत: मन तथा उसकी क्रियाविधि के बारे में स्पष्ट समझ से ही हमारे व्यक्तित्व का अध्ययन प्रारम्भ होना चाहिए।

अपने मन को समझने की आवश्यकता

हम बहुत-सी चीजें करने के इच्छुक हैं – अच्छी आदतें डालने और बुरी आदतें छोड़ने, एकाग्रता के साथ पढ़ने और मन लगाकर कुछ करने का हम संकल्प लेते हैं। परन्तु बहुधा हमारा मन विद्रोह कर बैठता है और हमें इन संकल्पों को रूपायित करने के हमारे प्रयास से पीछे हटने को मजबूर कर देता है। हमारे सामने किताब खुली पड़ी है और हमारी आँखें खुली हैं; परन्तु मन कुछ पुरानी बातों को सोचता हुआ या भविष्य के लिए ख्याली पुलाव पकाता हुआ इधर-उधर घूमने लगता है। जब हम थोड़ी देर के लिए प्रार्थना, जप या ध्यान करने बैठते हैं, तब भी ऐसा ही होता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "मुक्त! हम एक क्षण तो स्वयं अपने मन पर शासन नही कर सकते; यही नही, किसी विषय पर उसे स्थिर नही कर सकते और अन्य सबसे हटाकर किसी एक बिन्दु पर उसे केन्द्रित नहीं कर सकते! फिर भी हम अपने को मुक्त कहते हैं! जरा इस पर गौर तो करो!"[१]

भगवद्गीता का कहना है कि असंयमित मन एक शत्रु के समान और संयमित मन हमारे मित्र के समान आचरण करता है।[२] अत: हमें अपने मन की प्रक्रिया के विषय में एक स्पष्ट धारणा रखने की आवश्यकता है। क्या हम इसे अपने आज्ञा-पालन में, अपने साथ सहयोग करने में प्रशिक्षित कर सकते हैं? किस प्रकार यह हमारे व्यक्तित्व के विकास में योगदान कर सकता है?

मन की चार तरह की क्रियाएँ

मानव मन की चार मूलभूत क्रियाएँ हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो मैं एक ऐसे व्यक्ति से मिलता हूँ, जिनसे मैं लगभग दस वर्ष पूर्व मिल चुका हूँ। मैं याद करने का प्रयास करता हूँ कि मैं उससे कब मिला हूँ और वह कौन है! यह देखने के लिए मेरे मन के अन्दर मानो जाँच-पड़ताल शुरू हो जाती है कि वहाँ उस व्यक्ति से जुड़ी हुई कोई घटना तो अंकित नहीं है। सहसा मैं उस व्यक्ति को अमुक के रूप में पहचान लेता हूँ और कहता हूँ, "यह वही व्यक्ति है, जिससे मैं अमुक स्थान पर मिला था" आदि आदि। अब मुझे उस व्यक्ति के बारे में पक्का ज्ञान हो चुका है।

उपरोक्त उदाहरण का विश्लेषण करके हम मन की चार क्रियाओं का विभाजन कर सकते हैं –

स्मृति – स्मृतियों का भण्डार तथा हमारे पूर्व-अनुभूतियों के संस्कार हमारे मन के समक्ष विभिन्न सम्भावनाएँ प्रस्तुत करते हैं। यह भण्डार चित्त कहलाता है। इसी में हमारे भले-बुरे सभी प्रकार के विचारों तथा क्रियाओं का भण्डारण होता है। इन संस्कारो का कुल योग ही चरित्र का निर्धारण करता है। यह चित्त ही अवचेतन मन भी कहलाता है।

सोचने की क्रिया तथा कल्पना-शक्ति – कुछ निश्चित न कर पाकर मन अपने सामने उपस्थित अनेक विकल्पों का परीक्षण करता है। यह कई चीजों पर विचार करता है। मन की यह क्रिया मनस् कहलाती है। कल्पना तथा धारणाओं का निर्माण भी मनस् की ही क्रिया है।

निश्चय करना तथा निर्णय लेना – बुद्धि ही वह शक्ति है, जो निर्णय लेने में उत्तरदायी है। इसमें सभी चीजों के भले तथा बुरे पक्षो पर विचार करके वांछनीय क्या है, यह जानने की क्षमता होती है। यह मनुष्य में निहित विवेक की शक्ति भी है; जो उसे भला क्या है तथा बुरा क्या है, करणीय क्या है तथा अकरणीय क्या है और नैतिक रूप से उचित क्या है तथा

१ विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ११३

२. गीता, ६/५-६

अनुचित क्या है, इसका विचार करने की क्षमता प्रदान करती है। यह इच्छाशक्ति का भी स्थान है, जो व्यक्तित्व-विकास के लिए परम आवश्यक है, अतः मन का यह पक्ष हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्व का है।

'अहं' का बोध – सभी शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं को स्वयं में आरोपित करके – मैं खाता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सोचता हूँ, मैं द्विधाग्रस्त होता हूँ, आदि – इसी को अहंकार या 'मैं'-बोध कहते हैं। जब तक यह 'मैं' स्वयं को असंयमित देह-मन से जोड़ लेता है, तब तक मानव-जीवन इस संसार की घटनाओं तथा परिस्थितियों से परिचालित होता है। (इसके फलस्वरूप) हम प्रिय घटनाओं से सुखी होते हैं और अप्रिय घटनाओं से दुखी होते हैं। मन जितना ही शुद्ध तथा संयमित होता जाता है, उतना ही हमें इस 'मैं'-बोध के मूल स्रोत का पता चलता जाता है। और उसी के अनुसार मनुष्य अपने दैनन्दिन जीवन में सन्तुलित तथा साम्यावस्था को प्राप्त होता जाता है। ऐसा व्यक्ति फिर घटनाओं तथा परिस्थितियों द्वारा विचलित नहीं होता।

मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार – मन के ये चार बिल्कुल अलग अलग विभाग नहीं हैं। एक ही मन को उसकी क्रियाओं के अनुसार ये भिन्न भिन्न नाम दिये गये हैं।

मन के विषय में और भी

कठोपनिषद्[३] एक रथ के दृष्टान्त द्वारा मानव-व्यक्तित्व का वर्णन करता है। हमारा 'मैं' रथ का स्वामी है, शरीर ही रथ है और बुद्धि सारथी है। मनस् लगाम है, जिससे कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा घ्राणरूपी ज्ञानेन्द्रियाँ जुड़ी हुई है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ व्यक्ति को संसार का ज्ञान देनेवाली मानो पाँच खिड़कियाँ हैं। भोग्य विषयों रूपी सड़क पर यह रथ चलता है। जो व्यक्ति इस देह-मन के साथ तादात्म्य का बोध करता है, उसे विषयों या कर्मफलों का भोक्ता कहा जाता है।

यदि घोड़े भलीभाँति प्रशिक्षित नहीं हैं और यदि सारथी सोया हुआ है, तो रथ अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। बल्कि यह दुर्घटनाग्रस्त होकर अपने मालिक की मृत्यु का कारण भी बन सकता है। इसी प्रकार यदि इन्द्रियाँ नियंत्रण में नहीं लायी गयी और यदि विवेक की शक्ति सोयी रह गयी, तो व्यक्ति मानव-जीवन के लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता।

दूसरी ओर, यदि घोड़े प्रशिक्षित हैं और सारथी सजग है, तो रथ अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। उसी प्रकार यदि बुद्धि जाग्रत है और यदि मन तथा इन्द्रियाँ अनुशासित एवं संयमित हैं, तो व्यक्ति जीवन के लक्ष्य तक पहुँच सकता है। वह लक्ष्य क्या है? हम शीघ्र ही उस विषय पर आयेंगे।

व्यक्तित्व-विकास से जुड़ी मन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्रिया है हमारी भावनाएँ। ये भावनाएँ जितनी ही संयमित होंगी, व्यक्ति का व्यक्तित्व भी उतना ही स्वस्थ होगा। इन भावनाओं या मनोवेगों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है – राग और द्वेष। प्रेम, प्रशंसा, महत्त्वाकांक्षा, सहानुभूति, सुख, सम्मान, गर्व तथा इसी प्रकार के अन्य भावों को राग कहा जाता है। और घृणा, क्रोध, भय, खेद, ईर्ष्या, जुगुप्सा तथा लज्जा आदि द्वेष के अन्तर्गत आते हैं। जब तक व्यक्ति असंयमित मन के साथ जुड़ा है, तब तक उसके व्यक्तित्व का वास्तविक विकास नहीं होता। बुद्धिरूपी सारथी मनोवेगों को नियंत्रित करके और उच्चतर मन को निम्नतर मन के चंगुल से ऊपर उठाकर आत्म-विकास के एक प्रभावी यंत्र के रूप में कार्य करता है।

चरित्र क्या है?

हमारी प्रत्येक क्रिया तथा विचार हमारे मन पर एक छाप छोड़ जाता है। ये संस्कार ही यह निर्धारित करते हैं कि हम एक विशेष क्षण में, किसी विशेष परिस्थिति में कैसा आचरण करेंगे। हमारे इन समस्त संस्कारों का योग हमारे चरित्र का निर्धारण करता है। भूतकाल ने वर्तमान का निर्धारण किया है। उसी प्रकार वर्तमान – हमारे वर्तमान विचार तथा क्रियाएँ – हमारा भविष्य निर्धारित करेंगी। यही व्यक्तित्व विकास को नियंत्रित करनेवाला मूलभूत सिद्धान्त है।

कौन देह-मन-तंत्र को क्रियाशील बनाता है?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका उत्तर हमें अपने विषय में एक बेहतर ज्ञान देने में सहायक होगा। इसी प्रश्न ने प्राचीन भारत के ऋषि-मुनियों का भी ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने अपने ऊपर ही प्रयोग किये – अपनी इन्द्रियों तथा मानसिक यंत्रों पर – और विधिवत शोध से उन्हें पता चला कि मनुष्यों में एक ऐसा दैवी तत्त्व विद्यमान है, जो मन का भी मन है, आँखों की भी आँख है और वाणी की भी वाणी है।[४] यही वह दिव्यता है, जो हमारा वास्तविक 'मैं' और हमारे व्यक्तित्व का शाश्वत तत्त्व है। शरीर का नाश होने पर भी इस दिव्य तत्त्व का नाश नहीं होता। जब तक हम अपने देह-मन तथा इन्द्रिय-तंत्र के साथ तादात्म्य का बोध करते रहते हैं, तब तक यह दिव्यता छिपी रहती है। शास्त्रों तथा महापुरुषों के मतानुसार इस छिपी हुई दिव्यता को व्यक्त करना ही जीवन का लक्ष्य है।

स्वामी विवेकानन्द का केन्द्रीय सन्देश क्या था?

स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों, वार्तालापों, पत्रों तथा कविताओं के रूप में उनके जीवन का कृतित्व 'विवेकानन्द-साहित्य' के नाम से दस खण्डों में (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता

३. कठोपनिषद्, ३.३-९

४. केनोपनिषद्, १.१-२

म) प्रकाशित हुआ है । क्या स्वामीजी का कोई ऐसा केन्द्रीय सन्देश भी है, जो इन दस खण्डो मे व्याप्त हो? आइए हम स्वामीजी की अपनी ही वाणी का श्रवण करें,– "मेरा आदर्श अवश्य ही कुछ शब्दो मे व्यक्त किया जा सकता है और वह है – मानव-जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उसे अभिव्यक्त करने का उपाय बताना।"[५] मनुष्य की आन्तरिक दिव्यता ही स्वामीजी का मूलभूत सन्देश था। उनका निम्नलिखित प्रसिद्ध उद्धरण व्यक्तित्व-विकास मे हमारा मूलमंत्र बन सकता है – "प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है । बाह्य तथा आन्तरिक प्रकृति को वशीभूत करके अपने अन्तर्निहित देवत्व को प्रकट करना ही जीवन का लक्ष्य है ।"[६]

लोगो मे अन्तर्निहित दिव्यता तथा पूर्णता के प्रति उनमे चेतना जगाते स्वामीजी कभी थकते नही थे । वे चाहते थे कि यह दिव्यता हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन मे अभिव्यक्त हो। यहाँ तक कि वे इस दिव्यता की अभिव्यक्ति को ही मानवीय सभ्यता का एकमात्र पैमाना मानते थे –

"सम्भव है कोई राष्ट्र समुद्र की लहरो को जीत ले, भौतिक तत्त्वो पर नियंत्रण कर ले, जीवन की उपयोगितावादी सुविधाओ को पराकाष्ठा तक विकसित कर ले, परन्तु इसके बावजूद हो सकता है कि उसे कभी यह बोध ही न हो सके कि जो व्यक्ति अपने स्वार्थ को जीतना सीख लेता है, उसी मे सर्वोच्च सभ्यता होती है ।"[७]

"यह जगत् मानो एक व्यायामशाला के सदृश है – इसमें जीवात्माएँ अपने अपने कर्म के द्वारा व्यायाम कर रही है और इन व्यायामो के फलस्वरूप हम देव या ब्रह्मस्वरूप हो जाते है । अत: जिस वस्तु में ईश्वर की कितनी अभिव्यक्ति है, उसी के अनुसार उसका मूल्य निर्धारित होना चाहिए । मनुष्य में इस ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति को ही सभ्यता कहते है ।"[८]

हममें निहित यह देवत्व अनन्त सत्, अनन्त चित्, और अनन्त आनन्द का आगार है । यह जितना ही अधिक अभिव्यक्त होता है, हम उतने ही अधिक स्थायी सुख की अनुभूति और परम ज्ञान की उपलब्धि करते है ।

व्यक्तित्व-विकास का सार है - इच्छाशक्ति को सबल बनाना

हमारे व्यक्तित्व का यह दिव्य केन्द्र मानो पाँच आवरणो से आच्छन्न है –

अन्नमय कोश के अन्तर्गत शरीर तथा इन्द्रियाँ आती है ।

प्राणमय कोश, जो भोजन पचाना, रक्तसंचार, श्वास-प्रश्वास तथा शरीर की अन्य क्रियाएँ सम्पन्न करता है ।

मनोमय कोश मन के चिन्तन, संवेदन तथा आवेग आदि क्रियाओ द्वारा पहचान में आता है ।

विज्ञानमय कोश यह व्यक्ति की निश्चयात्मिका शक्ति है । यह विवेक तथा इच्छाशक्ति का भी स्थान है ।

आनन्दमय कोश का अनुभव गहन निद्रा के समय सुख के रूप मे होता है ।

प्रत्येक परवर्ती कोश पूर्ववर्ती की अपेक्षा सूक्ष्मतर तथा उसमे व्याप्त है ।

व्यक्तित्व के उच्चतर आयामो के साथ उत्तरोत्तर तादात्म्य स्थापित करना ही व्यक्तित्व विकास का तात्पर्य है । इस प्रकार केवल अन्नमय कोश के साथ एकात्म हुआ तथा अपने उच्चतर मानसिक कोश का उपयोग न करनेवाला व्यक्ति उन पशुओ से ज्यादा भिन्न जीवन नही बिताता, जिनका सुख-दुख इन्द्रियो तक ही सीमित रहता है ।

इच्छाओ, पुरानी आदतो, गलत प्रवृत्तियो, आवेगो तथा बुरे संस्कारो द्वारा व्यक्त होनेवाले अपने निम्नतर मन के साथ संघर्ष करने से ही विकास होता है । हम अपने निम्नतर मन के साथ जितना ही कम तादात्म्य रखकर और अपने उच्चतर मन के साथ जितना ही अधिक तादात्म्य रखते हुए अपनी बुद्धि का प्रयोग करेंगे, उतना ही विकसित हमारा व्यक्तित्व होगा । इसमें अपने मन तथा इसकी पुरानी आदतो को वश में करने और नयी तथा हितकर आदते डालने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। परन्तु यह संघर्ष ही सबसे बड़ा संघर्ष है, क्योंकि यह हमारी दिव्यता तथा उसके द्वारा हममे अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करके हम सही मायनो मे सभ्य बनाता है ।

व्यक्तित्व-विकास के लिए कुछ आवश्यक गुण

अपने आप में विश्वास : स्वामी विवेकानन्द अपनी अन्तर्निहित दिव्यता मे विश्वास को व्यक्तित्व-विकास का मूल आधार मानते थे । इस आत्मविश्वास के बाद ही ईश्वर में विश्वास का स्थान आता है । यदि किसी का विश्वास हो कि शरीर या मन नही, बल्कि आत्मा ही उसका सच्चा स्वरूप है, तो वह एक सुदृढ़ चरित्रवाला बेहतर इन्सान हो सकेगा ।

सकारात्मक विचार अपनाओ : स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों मे मनुष्यो की दुर्बलता का तिरस्कार किया । एक सुदृढ़ चरित्र के निर्माण हेतु हमारी अन्तर्निहित दिव्यता पर आधारित पौष्टिक विचारो की आवश्यकता है । "केवल सत्कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; बुरे संस्कारो को रोकने का बस यही एक उपाय है । ... बारम्बार अभ्यास की समष्टि को ही चरित्र कहते है और इस प्रकार का बारम्बार अभ्यास ही चरित्र का

५ विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ४०७
६ वही, खण्ड १, पृ. ३४, १७३
७ वही, खण्ड १, पृ. २६६
८. वही, खण्ड १०, पृ. ३९४

सुधार कर सकता है ।"[९] इसके अतिरिक्त स्वयं को तथा दूसरों को दुर्बल समझना ही स्वामीजी के मतानुसार एकमात्र पाप है ।

असफलताओं तथा भूलों के प्रति दृष्टिकोण : यदि कोई हजार बार प्रयास करके भी हर बार असफल होता है, तो भी स्वामीजी ने एक बार पुन: प्रयास करने की सलाह दी है । एक दीवार झूठ नही बोल सकती, परन्तु उसके समान निष्क्रिय जीवन बिताने के स्थान पर गल्तियाँ करके उससे सीखने को वे अधिक प्रशंसनीय मानते थे ।

आत्मनिर्भरता : मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है । स्वामीजी कहते हैं – "हम स्वयं ही अपनी वर्तमान अवस्था के लिए जिम्मेदार हैं और भविष्य में हम जो कुछ होना चाहे, उसकी शक्ति भी हमीं में है ।"[१०]

त्याग और सेवा : चारित्रिक विकास के लिए स्वामीजी निष्काम सेवा को एक प्रमुख साधन मानते थे । इसके साथ ही स्वार्थ तथा कर्मफलों की इच्छा के त्याग को मिलाकर स्वामीजी ने इन्हें राष्ट्र के लिए द्विविध आदर्श बताया । उन्होंने कहा, "उसकी इन धाराओं में गति लाइये और बाकी सब कुछ अपने आप ही ठीक हो जायेगा ।"[११]

यह लेखमाला

अगले कुछ अंकों में 'विवेकानन्द-साहित्य' के दस खण्डों में बिखरे स्वामीजी के व्यक्तित्व-विकास विषयक विचारों को प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास किया जायेगा । आशा है इसका अध्ययन हमारी युवा पीढ़ी को स्वामीजी तथा उनके साहित्य का गहन अध्ययन करने को प्रेरित करेगी तथा उनमें अपने चरित्र को गढ़ने तथा व्यक्तित्व का विकास करने की इच्छा जगायेगी । एक विकसित व्यक्तित्व तथा उत्तम चरित्र व्यक्ति के चुने हुए क्षेत्र में उत्कृष्टता सुनिश्चित करेगा और इस प्रकार यह व्यक्ति तथा साथ ही राष्ट्र के विकास में भी योगदान करेगा । स्वामीजी कहते हैं – "तुम स्वयं को और प्रत्येक व्यक्ति को उसके सच्चे स्वरूप की शिक्षा दो और घोरतम मोह-निद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस नीद से जगा दो । जब तुम्हारी जीवात्मा प्रबुद्ध होकर सक्रिय हो उठेगी, तब तुममें स्वयं ही शक्ति आयेगी, महिमा आयेगी, साधुता आयेगी और पवित्रता भी स्वयं ही चली आयेगी – तात्पर्य यह है कि जितने भी अच्छे गुण हैं, वे सभी तुम्हारे भीतर आ जायेंगे ।"[१२]

❖ (क्रमशः) ❖

---

९. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. १२३
१०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ७
११. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. २६५
१२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ८९

धन्य वही मन

डॉ. भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

मन का ही सब खेल जगत् में,
साध सको तो साधो मन को ।।

मन ही बन्धन और मोक्ष का
कारण है इस भव-कानन में,
शक्ति असीमित भरी हुई है
वानर-सम चंचल इस मन में;
मन को करके आत्मनियंत्रित,
सुफल करो इस मानव-तन को ।।

जिसने मन को साधा उसने
जीवन का श्रेयस् फल पाया,
धन्य वही मन, जो पंकज-सम
निकल पंक से ऊपर आया,
मन के बन कर दास, मनुज तुम
व्यर्थ करो मत इस जीवन को ।।

मन को साध-समेट सहज ही
आत्मदेव की ओर लगा दो,
नित्य लोकमंगल हो जिससे
जग में वह शुभ ज्योति जगा दो,
कपट कलह कालुष्य छोड़कर
प्राप्त करो लोकोत्तर धन को ।।

मन को मार सको ऐसा तो
नहीं कदापि सहज है प्यारे,
ऊर्ध्वमुखी कर आत्मतत्त्व से
मन के तार मिला दो सारे,
तब तो तुम 'मधुरेश' सहज ही
प्राप्त करोगे आनँदघन को ।।

मानस-रोगों से मुक्ति (८/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन चौवालीसवें प्रवचन का पूवार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डिजी ने मानस-रोगों की भयावहता का चित्रण करने के बाद उसे दूर करने की जिस चिकित्सा-पद्धति का वर्णन किया है, उसमें सर्वप्रथम और सर्वाधिक अपेक्षित है भगवान श्रीराम की कृपा।

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा । ७/१२२/५

गोस्वामी जी कहते हैं – रोगी की चिकित्सा के लिये उपयुक्त वैद्य चाहिये। वैद्य रोगी की परीक्षा करके देखता है कि किस दोष अथवा विकृति के कारण रोग हुआ है । वात-पित्त-कफ की विकृति से रोग होता है । वैद्य जब इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि किस प्रकार की विषमता से यह रोग उत्पन्न हुआ है तथा साथ ही यह भी जान लेता है कि रोगी की प्रकृति कैसी है और तब वह उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करता है। आयुर्वेद की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति में भिन्नता होती है । दो व्यक्तियों को एक समान रोग होने पर भी दोनों की चिकित्सा समान नहीं हो सकती। रोगी की प्रकृति के अनुसार चिकित्सा में भी भिन्नता हो जाती है। 'उपयुक्त वैद्य' कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा वैद्य जो रोग का सही निदान करके रोगी की प्रकृति के अनुरूप चिकित्सा का विधान कर सके। वैद्य के द्वारा सही चिकित्सा का विधान देने के बाद रोगी की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सर्वश्रेष्ठ वैद्य के आने पर भी यदि रोगी औषधि, अनुपान तथा पथ्य को समुचित रूप से स्वीकार न करे, तो वह स्वस्थ नहीं होगा और रोग में कुछ अन्तर भी पड़ा, तो धीरे धीरे तथा बड़े विलम्ब से होगा। दूसरी ओर यदि रोगी वैद्य के आदेश का ठीक ठीक पालन करे, तो उसे भूख लग आती है। उसकी मन्दाग्नि दूर हो जाती है और उसके शरीर में नया बल उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद वह स्नान करता है और अपने कर्तव्यों में लग जाता है।

शरीर के सन्दर्भ में यह जो चिकित्सा-पद्धति है, मन के सन्दर्भ में भी वही है। मनोरोगों के सन्दर्भ में सद्गुरु या सन्त वैद्य है और शिष्य या साधक अपने जीवन के रोगों से परिचित होते हुए भी उनकी चिकित्सा नहीं जानता। वैसे तो मनुष्य को प्राय: अपनी मनःस्थिति का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में सद्गुरु शिष्य या साधक की मनःस्थिति को यथार्थ रूप से पहचान कर उसके लिए उपयुक्त औषधि की व्यवस्था कर देते हैं।

सन्त या सद्गुरु द्वारा प्राय: भक्तिरूपी औषधि ही दी जाती है, परन्तु भक्ति का विस्तार तो बहुत है। 'मानस' में इसे नौ या चौदह रूपों में प्रस्तुत किया गया है। सत्य तो यह है कि इन जो नौ या चौदह रूपों में भक्ति का वर्गीकरण किया गया है, वह भी सुविधा की ही दृष्टि से किया गया है। यदि खूब गहराई से विचार करके देखें, तो भक्ति के इतने रूप हो सकते हैं और उनका इतने प्रकार से वर्णन हो सकता है कि जिसकी कोई सीमा नहीं है। अब यह जो नौ या चौदह प्रकार की भक्ति का वर्णन किया गया है, इनमें से भी व्यक्ति को अपने लिए चुनाव करना पड़ेगा या फिर गुरु यह बतायेंगे कि किस शिष्य या साधक को अपने जीवन में भक्ति के किस रूप को प्रमुखता देनी होगी। फिर जैसे रोगी यदि दवा को अनुपान के साथ मिलाकर सेवन न करे, तो उसे उसका समुचित लाभ नहीं मिलता, वैसे ही शिष्य को औषधि के साथ गुरु के प्रति श्रद्धा रूपी अनुपान मिलाना पड़ेगा। शिष्य के मन में यदि गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं होगी, यदि उनकी वाणी पर विश्वास नहीं होगा और यदि वह गुरु के आदेश का ठीक ठीक पालन नहीं करेगा, तो वह स्वस्थ नहीं हो सकेगा। परन्तु यदि वह सही पद्धति से औषधि को अनुपान में मिलाकर सेवन करे, तो उसकी बुद्धि की भूख बढ़ेगी, विषयों में आसक्ति रूपी उसकी दुर्बलता दूर होगी, उसमें वैराग्य का बल आने लगेगा, ज्ञान के जल में स्नान करके वह निर्मल बनेगा और भक्ति की शीतलता से उसका ताप मिटेगा।

भगवान राम साक्षात् ईश्वर होकर भी जब मनुष्य के रूप में अवतीर्ण होते हैं, तो अपनी मानवीय लीला में वे स्वयं भी गुरु का वरण करते हैं। 'मानस' में गुरु की भूमिका के सन्दर्भ में भगवान राम अपनी प्रजा को उपदेश देते हुए कहते हैं – हमारी जीवन-नौका के सद्गुरु ही दृढ़ कर्णधार हैं।

करनधार सद्गुर दृढ़ नावा । ७/४४/८

यहाँ पर गुरु को मल्लाह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह तो काव्य के माध्यम से कहने की एक पद्धति है। इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि शिष्य या साधक के जीवन में जितनी समस्याएँ हैं, उनका जो समाधान करता है, वही सच्चे अर्थों में सद्गुरु और सन्त है। लोग जब गुरु शब्द का प्रयोग करते हैं, तो सामान्यत: उनके मन में यह धारणा होती है कि हम जिनसे

मंत्र लेते हैं, वे ही हमारे गुरु हैं, अन्य नहीं। इसका अभिप्राय क्या यह हुआ कि हम जिन अन्य लोगों से प्रतिक्षण कुछ ग्रहण कर रहे हैं, वे गुरु नहीं हैं? इस सन्दर्भ में रामायण में एक बड़ी सुन्दर बात कही गयी है। किसी ने गोस्वामी जी से कहा – महाराज, सद्गुरु नहीं मिलते, क्या करें? इस पर गोस्वामी जी बोले – एक सद्गुरु तो सबके लिए सुलभ हैं। – कौन? कहा – यह जो रामायण रूपी भगवान श्रीराम का चरित्र है, यह स्वयं ही हमारे जीवन का सबसे बड़ा सद्गुरु है। हमारे यहाँ तो परम्परा गुरु को गुरु के रूप में देखने की है, परन्तु गोस्वामी जी ने ग्रन्थ को भी गुरु के रूप में प्रस्तुत किया है।

ग्रन्थ को गुरु के रूप में प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह है कि यदि हम प्रत्यक्ष रूप से किसी गुरु का वरण नहीं कर पाते, उन्हें ढूँढ़ नही पाते अथवा हमारे हृदय में किसी व्यक्ति के प्रति गुरु के रूप में श्रद्धा जाग्रत नहीं हो पाती, तो भगवान श्रीराम के चरित्र तथा गुणों के वर्णन रूप यह जो रामायण है, हम इसे ही गुरु मान सकते हैं। हम श्रीराम के गुणों को ही सद्गुरु मान लें और रामायण से अपनी समस्याओं का समाधान पा लें। परन्तु यह तभी हो सकेगा, जब भगवान का चरित्र या रामायण बोलने लगे – ठीक वैसे ही जैसे कि गुरु-शिष्य के बीच संवाद होता है। इसका तात्पर्य यह है कि ग्रन्थ सद्गुरु तभी होगा, जब वह चैतन्य हो और सचमुच ही आपसे बोलने लगे। अभिप्राय यह कि जब श्रद्धा और विश्वास की प्रमुखता हो, तभी ग्रन्थ हमें कल्याणकारी प्रेरणा प्रदान कर सकता है। परन्तु ग्रन्थ को यदि हम केवल एक साधारण पुस्तक के रूप में देखेंगे, तो उससे उतना लाभ नहीं होगा।

वैसे तो यदि हम किसी मनुष्य को गुरु बनायें, तो देखने में आता है कि उसका शरीर भी पंचतत्त्वों से ही मिलकर बना हुआ है, परन्तु उसमें हमें साक्षात् ईश्वर दिखायी देता है। इसी प्रकार यदि हम इस ग्रन्थ को ठीक ठीक सद्गुरु के रूप में देखें और इसे पढ़ें, तो इसमें हमें वही चैतन्य-तत्त्व प्रत्यक्ष प्रकाशित दिखाई देगा। परन्तु यदि इसके विपरीत हम इसे एक साधारण पुस्तक या काव्य की दृष्टि से पढ़ें, तो इससे हमें थोड़ा-बहुत लाभ भले ही मिल जाय, लेकिन उसमें हमें उस चैतन्य-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होगा।

भगवान राम की कथा – उनका चरित्र तथा गुण – हमारे जीवन की सभी समस्याओं का हर प्रकार से समाधान कर देती है। गोस्वामी जी ने 'मानस' के प्रारम्भ में जो वन्दना की है, उस पर यदि हम थोड़ी गहराई से विचार करें, तो पायेंगे कि उन्होंने न जाने कितने प्रकार से, कितने रूपों में इस कथा की चर्चा की है –

रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ।। १/३१/५

इसके बाद वे कथा का विस्तार करते हुए कहते हैं कि भगवान राम का यह चरित हमारे तथा आप सबके लिए सद्गुरु है। सद्गुरुओं में भी भेद होते हैं। यदि आप एक योगी-गुरु के पास जायें, तो वे योग का मार्ग बतायेंगे; किसी भक्त-गुरु के पास जाइये, तो वे भक्तिमार्ग बतायेंगे; ज्ञानी-गुरु ज्ञान का मार्ग बतायेंगे और एक गुरु वे भी होते हैं, जिनमें इन सबका सामंजस्य मिल जाता है। सामंजस्य होने के नाते उन्हें जो प्रिय है, वही उपदेश वे नहीं देते, अपितु साधक के जीवन की जो आवश्यकता है, वे उसी के अनुकूल उपदेश देते हैं।

इस प्रकार कुछ महापुरुष तो ऐसे होते हैं, जो किसी विशेष प्रकार की समस्या के विशेषज्ञ होते हैं। जैसे आपने चिकित्सकों में भी देखा होगा – कोई नेत्र-रोगों के विशेषज्ञ होते हैं, कोई अस्थि-रोगों के और कोई उदर-रोगों के। इसी प्रकार आचार्य परम्परा में भी विभिन्न आचार्य अलग अलग मनोरोगों के विशेषज्ञ हैं, वे किसी एक रोग की चिकित्सा में निपुण हैं। परन्तु जिन्हें सभी रोगों का सर्वांगीण रूप से ज्ञान है, वे समस्त रोगों की ठीक ठीक चिकित्सा कर सकते हैं। उनके पास जाने से लाभ यह है कि वे केवल एक रोग का नहीं, बल्कि रोगी के समग्र जीवन को दृष्टि में रखकर, सभी अंगों को दृष्टि में रखकर सम्यक् दृष्टि से देखेंगे और शिष्य को जिस किसी साधन की आवश्यकता होगी – योग की आवश्यकता हुई तो योग का, भक्ति की आवश्यकता हुई तो भक्ति का और ज्ञान की आवश्यकता हुई तो ज्ञान का उपदेश देंगे। परन्तु जब गोस्वामी जी ने बताया कि भगवान राम की कथा भी सद्गुरु है, तो उनसे पूछा गया कि ये किस साधन के विशेषज्ञ हैं? गोस्वामी जी बोले – ये ज्ञान, भक्ति तथा योग – तीनों के सद्गुरु हैं –

सद्गुर ज्ञान बिराग जोग के। १/३२/३

इसका अभिप्राय यह है कि भगवान राम के इस चरित में यदि आप जिस भी योग की दृष्टि से विचार करें, उसी की प्रेरणा पा सकते हैं। चाहे पतंजलि का राजयोग का मार्ग हो, या भक्तियोग का, गोस्वामी जी आश्वासन देते हैं कि रामकथा सद्गुरु के रूप में हमें प्रेरणा प्रदान करेगी। गोस्वामी जी इसे मानस-रोगों के साथ जोड़ देते हैं। मन की चिकित्सा कौन करेगा? वैद्य। और रामकथा क्या है?

सद्गुर ज्ञान बिराग जोग के।
बिबुध बैद भव भीम रोग के।। १/३२/३

जो विविध प्रकार के मानस-रोग हैं, उन्हें नष्ट करने हेतु यह रामकथा दिव्य वैद्य के समान है। गोस्वामी जी ने उसे एक ही पंक्ति में सद्गुरु भी कहा और वैद्य भी कहा। इस प्रकार सद्गुरु को वैद्य बताकर वे भगवान राम के चरित्र में भी इन दोनों का सामंजस्य की ओर संकेत करते हैं।

भगवान राम का चरित्र सद्गुरु है और उनके गुण भी सद्गुरु हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे मन तथा जीवन में

जो समस्याएँ आती हैं, उन्हें यदि हम रामायण के सन्दर्भ में देखें, तो हमें आदि से अन्त तक उनका समाधान विविध रूपों में मिलेगा। गुरु के सन्दर्भ में देखें, तो भगवान राम के चरित्र में गुरु की भूमिका अनेक रूपों में आती है। भगवान राम ने जिनका गुरुरूप में वरण किया, जिन्हें नमन किया, उनकी भूमिका को गोस्वामी जी ने भिन्न भिन्न प्रसंगों में प्रस्तुत किया है। अब दृष्टान्त के रूप में एक सांकेतिक बात आपके सामने रखी जायेगी। वशिष्ठ भगवान के प्रथम गुरु हैं। वशिष्ठ जी से भगवान राम वेद की शिक्षा तो प्राप्त करते हैं, परन्तु उसके पहले गोस्वामी जी एक बड़ी भावनात्मक बात कहते हैं, जिसे यदि हम साधना के सन्दर्भ में देखें, तो वह भावना का सत्य न होकर जीवन का बिल्कुल व्यावहारिक सत्य है। गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' के साथ-ही-साथ कुछ अन्य पुस्तकें भी लिखी है। उनमें विशेषता क्या है? 'मानस' को पढ़कर लगता है कि वह त्रेतायुग का सत्य है और कवितावली, गीतावली और विनय-पत्रिका को पढ़कर लगता है मानो सब कुछ हमारे सामने हो रहा है।

इन ग्रन्थों के विविध प्रसंगों में गोस्वामी जी क्या बताना चाहते हैं? 'मानस' में वे बताते हैं कि भगवान का भरत जी से, लक्ष्मण जी से, हनुमान जी से, सीता जी से क्या सम्बन्ध था, उनके प्रति कैसा प्रेम था! परन्तु इतना जान लेने से ही तो हमारी समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता। इसके लिए तो हमें यह जानना होगा कि हमारा उनसे क्या नाता है! 'मानस' में गोस्वामी जी जिनकी वन्दना करते हैं, उनके गुण बता देते हैं, पर 'विनय-पत्रिका' में पद्धति थोड़ी बदली हुई है। विनय-पत्रिका में उन्होंने लक्ष्मण जी की वन्दना बड़े विस्तार से की, परन्तु उसका अन्त कितना सुन्दर हुआ! वे गिनाने लगे –

लाल लाड़िले लखन हित हौ जन के। (वि. ३७)

यह बात तो मानस में बारम्बार कही गयी है कि लक्ष्मण जी भगवान राम के सेवक हैं, परन्तु विनय-पत्रिका में तो आरम्भ ही इस बात से करते हैं कि 'लक्ष्मण जी आप मेरे हितैषी हैं'। और इसी प्रकार लक्ष्मण जी से सबका नाता गिनाते हुए उन्होंने बड़ी ही मधुर पद्धति में लिखा –

भावते भरत के, सुमित्रा-सीता के दुलारे
चातक चतुर राम स्याम घन के ।।
बल्लभ उरमिला के सुलभ सनेह बस
धनी धन तुलसी से निरधन के ।। विनय. ३७/४

– आप भरत जी के बड़े प्रिय है; सुमित्रा और सीता – इन दो माताओं का वात्सल्य आपको प्राप्त है; रामरूप मेघ के आप चतुर चातक हैं; उर्मिला के आप प्राणप्रिय हैं।

और अन्त में समाप्त कैसे किया? वे जब भी प्रारम्भ करते हैं, तो सारे नाते गिनाने के बाद एक नाता जोड़े बिना उन्हें सन्तोष नहीं होता। और वह यह कि आप मुझ तुलसीदास जैसे निर्धन के धनी तथा धन – दोनों ही आप हैं।

ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ने तथा उसको अनुभव करने का सूत्र तो 'मानस' में भी है, परन्तु उन सम्बन्धों तथा अनुभूतियों का विस्तार तो विनय-पत्रिका, गीतावली आदि ग्रन्थों में भी पग पग पर देखने को मिलता है।

रामायण में भगवान राम के साथ हनुमान जी का नाता स्वामी-सेवक का है और पिता-पुत्र का भी। सेवक या पुत्र जैसे स्वामी या पिता के भरोसे निश्चिन्त रहता है, हनुमान जी भी प्रभु से प्रार्थना करते हैं – प्रभो, इन नातों में से जो भी आपको प्रिय लगे, उसी को स्वीकार करके आप मुझ पर कृपा करें। हनुमान जी की इसी प्रार्थना को 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामी जी अपने सन्दर्भ में ले लेते हैं और भगवान से कहते हैं –

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरौ।
तात मात गुरु सखा तू, सब बिधि हित मेरो।। (७९)

नाते गिनाते जा रहे हैं और बाद में एक इतनी मधुर बात कह दी कि भगवान को हँसी आये बिना नहीं रह सकी। भगवान बोले – यह जो तुम इतने नाते गिना रहे हो, इतनी लम्बी गणना कर रहे हो, तुम कोई एक नाता बताओ। तब गोस्वामी जी ने अपनी मधुर भाषा में कहा – महाराज, आपसे मेरे अनेक नाते हैं –

तोहिं मोहिं नाते अनेक मानियै जौ भावै।

– ठीक है, परन्तु तुम उनमें से किसको प्रमुखता देते हो? बोले – प्रमुखता मैं नहीं दूँगा। – तो? – मैंने तो गिना दिये, अब आपको जो पसन्द हो, उसे आप मान लीजिए। प्रभु ने कहा – नाता तुम मानोगे या मैं मानूँगा? बोले – नहीं महाराज, मैं तो केवल गिनाऊँगा, मानेंगे तो आप ही। – क्यों? यह भार मुझ पर क्यों सौंप रहे हो? – इसलिए कि मैं मान लूँगा, तो उसका निर्वाह भी मुझे ही करना पड़ेगा; उस नाते का जो धर्म तथा मर्यादा है, उसका पालन भी मुझे ही करना पड़ेगा तथा उसमें जो त्रुटि होगी उसका अपराध भी मुझे ही लगेगा। और महाराज, नाते का निर्वाह करने की मुझमें योग्यता भी नहीं है। दूसरी ओर आप यदि नाते को मान लेंगे, तो मैं भले ही न कर पाऊँ, आप तो उसका निर्वाह कर ही लेंगे, क्योंकि आप समर्थ हैं। अत: नातों की एक सूची मैं आपके समक्ष रख देता हूँ, उसमें से जो भी नाता आपको प्रिय लगे, वही आप मुझे मान लीजिए।

देखिए, कितनी चतुराई से गोस्वामी जी त्रेता युग के राम को वर्तमान युग में ले आते हैं! अयोध्या के राम को अपने हृदय में ले आते हैं! अयोध्या में जो राम महाराज दशरथ के आँगन में खेलते हैं –

ब्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी । १/१११/४

उन्हीं को 'कवितावली' रामायण में अपने मन-मन्दिर में ले आते हैं –

अवधेस के बालक चारि सदा
तुलसी मनमंदिर में बिहरैं ।। (कवि. ३)

इतना ही नहीं, श्रीराम नींद में सोये हुए हैं। छोटे बालक हैं। सबेरा हो गया है और उनके मित्र आकर बाहर खड़े हैं। यहाँ पर भगवान राम का बालकों के प्रति प्रेम दिखाई देता है, परन्तु गोस्वामी जी एक नई बात भी कहते हैं। बालक द्वार पर आये हुए हैं और चाहते हैं कि श्रीराम उठें और हमारे साथ खेलें। श्रीराम बड़े सुख की नींद ले रहे हैं। जहाँ इतना वात्सल्य, इतना प्रेम, इतनी निश्चिन्तता है, गहरी निद्रा की ऐसी सुख देनेवाली वृत्ति है, वहाँ वे एक नई बात कह देते हैं – कौशल्या अम्बा श्रीराम को जगा रही हैं और बारम्बार कहती हैं – राम, उठो, उठो, तुम्हारी मित्र-मण्डली बाहर खड़ी तुम्हें पुकार रही है —

जननी कहै भोर भई, जागहुँ मेरे प्यारे ।
उठहुँ तात बलि मात बदन पर
खड़े सखा सब द्वारे ।।

श्री राघवेन्द्र माँ के उस जगाने का आनन्द ले रहे हैं कि सहसा एक पुरुष स्वर सुनाई पड़ा। उस पुरुष स्वर ने भगवान से अनुरोध किया – "माँ आपको जगा रही हैं, बाहर आपके सखा खड़े इन्तजार कर रहे हैं, तो भी आप उठने में देरी क्यों कर रहे हैं? उठते क्यों नहीं?" सुनकर प्रभु चौंक गये – यहाँ भीतर में यह कौन पुरुष आ गया? आँखें खोलकर देखा तो तुलसीदास खड़े थे। भगवान बोले – "माँ मुझे जगा रही है, मेरे सखा बाहर खड़े हैं, यह सब तो ठीक है, परन्तु भाई, तुम्हें इसमें इतनी चिन्ता क्यों हो रही है? तुम्हें बीच में बोलने की क्या जरूरत है?" गोस्वामी जी ने कहा, "महाराज, मुझे जरूरत है, तभी तो आपसे जल्दी जागने का अनुरोध कर रहा हूँ। माँ को और सखाओं को जितनी जल्दी है, आपको जगाने की उनसे कहीं अधिक जल्दी मुझे है।" – क्या जल्दी है तुम्हें? – "देखिए, माँ को तो चिन्ता है कि बालक ने कई घण्टों से कुछ खाया नहीं, उठ बैठे तो उसे जल्दी से कुछ खिला दूँ। आपके मित्रों को जल्दी इसलिए है कि आप उठ जाएँ तो वे आपके साथ खेलें। और मुझे जल्दी इसलिए है कि आप उठ बैठें और माँ जो कुछ कलेवा दें, उसे ग्रहण करें।" – "तो तुम इसके लिए इतने बेचैन क्यों हो? मेरी भूख की चिन्ता तुम्हें क्यों हो रही है?" बोले – "आपकी नहीं, मुझे तो अपनी भूख की चिन्ता लगी हुई है –

मनभावतो कलेऊ कीजै ।
तुलसिदास कहँ जूठनि दीजै । (गीता. १/३६)

– जब आप कलेवा कर लेंगे, तभी तो हमें प्रसाद मिलेगा! मुझे चिन्ता इसी बात की है कि यदि आप उठने में विलम्ब करेंगे, कलेवा करने में देरी करेंगे, तो मेरी भूख मिटने में भी उतना ही विलम्ब होगा।

यह जो गीतावली, कवितावली तथा विनयपत्रिका में जो क्रम मिलता है, उसका तात्त्विक अर्थ यह है कि रामायण के पात्रों के साथ-ही-साथ आप स्वयं भी अपने को भगवान के साथ जुड़ा हुआ महसूस करें। इनमें बड़े ही रसमय वर्णन किये गये हैं, बड़े भावनात्मक चित्रण किये गये हैं और इन रसात्मक-भावनात्मक चित्रों से आप बड़े गम्भीर आध्यात्मिक संकेत भी ले सकते हैं। मानस में गोस्वामी जी ने केवल सूत्र दिये हैं, चित्रों का विस्तार नहीं किया है। गीतावली में गोस्वामी जी ने जो चित्र प्रस्तुत किये हैं, उनमें से एक इस प्रकार है –

आजु अनरसे हैं भोर के
पय पियत न नीके ।। गीता. १/१२

कौशल्या अम्बा घोर चिन्ता में डूबी हैं। क्यों? सुबह जागने पर भी बालक को दूध पीने में कोई रुचि नहीं है, दूध पिलाने पर भी पी नहीं रहा है। कलेवा भी नहीं कर रहा है। लगता है थोड़ा अस्वस्थ है। तब यहाँ गीतावली में भी वही बात कही गयी, जो बहुधा देवियों के मन में आती है। बच्चा यदि इस प्रकार यदि जरा भी अस्वाभाविक दिखाई दे, तो माताओं के मन में तत्काल यह बात आती है कि बच्चे को नजर लग गयी है। गोस्वामी जी कहते हैं – बस माँ समझ गयीं और सुमित्रा जी से कहने लगीं – जब कोई बुरी दृष्टिवाली स्त्री मेरे राम की ओर देख लेती है, तो मेरे राम को नजर लग जाती है –

तदपि कबहुँ कबहुँक सखी ऐसेहि
अरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के ।। १/१२

दूध नहीं पी रहा है, तो अब क्या किया जाय? लिखा है कि तब माँ का ध्यान एक ही ओर जाता है – गुरुजी को बुलवाओ। गुरुजी को सूचना दी गयी कि आज तो राम बिल्कुल अनरसे हैं, सुस्त हो गये हैं, दूध भी नहीं पी रहे हैं, आप चलकर किसी मंत्र के द्वारा इस नजर के कष्ट का निवारण कीजिए। गुरु वशिष्ठ आते हैं और श्रीराम के सिर पर हाथ रख देते हैं। यही आनन्द लेने के लिए ही तो श्रीराम यह सब नाटक कर रहे थे। ईश्वर को भला किसकी नजर लगेगी –

भृकुटि बिलास भयंकर काला ।
नयन दिवाकर कट घनमाला ।। ६/१५/२

– भयंकर काल जिनकी भृकुटि का चलना है, सूर्य नेत्र है और बादलों का समूह केश हैं।

परन्तु बालक के रूप में भगवान राम एक सांकेतिक लीला प्रस्तुत करते हैं। इसमें एक बड़ा रहस्य है।

लोक-मान्यता यह है कि बालक को कभी कभी किसी की नजर लग जाती है। इस सम्बन्ध में मैं किसी विवाद में नहीं पड़ना चाहता कि यह केवल विश्वास है या बुद्धिमत्ता। यह एक अलग ही तर्क का विषय है। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिन्हें लोग अन्धविश्वास तथा बुद्धिहीनता की बात मानते हैं। परन्तु ऐसा माननेवालों के जीवन में भी कुछ-न-कुछ ऐसी बात अवश्य होती है, जिससे उतनी ही बुद्धिहीनता प्रमाणित होती है। तथापि कुछ लोगों में यह धारणा हो जाती है कि हम जो मानते हैं, वह तो बुद्धिसंगत है और अन्य लोगों द्वारा जो माना गया है, वह कोरा अन्धविश्वास है। इस प्रकार यह मान लेना कि हमारी मान्यताओं के पक्ष में कोई दोष नहीं है, यह एक तरह का दुराग्रह है।

नजर लगने की यह जो मान्यता है, उसे हम भावनात्मक रूप में लें और साधना के सन्दर्भ में इसमें जो एक आध्यात्मिक संकेत छिपा है, उस पर दृष्टि डालें। बालकों को नजर लगती हो या भले ही न लगती हो, परन्तु संसार में ये जो साधक-बालक हैं, इन्हें तो नजर लग जाने का काफी भय रहता है। गोस्वामी जी ने कहा कि उन्हें तीन प्रकार की दृष्टियों का भय है। आँखों में भी किसी के प्रति प्रीति झलकती है, तो किसी के प्रति हिंसा का भाव और किसी की आँखों में तो काम की वृत्ति झलकती है। आँखों में झलकने वाली ये वृत्तियाँ कई बार दूसरो के मन पर असर डालने में भी समर्थ दिखती हैं।

ये तीन प्रकार की दृष्टियाँ कौन-सी हैं? गीतावली में गोस्वामी जी बताते हैं कि तीनों माताएँ जब श्रीराम तथा अपने पुत्रों को देखती हैं, तो उन्हें भय लगता है कि कहीं उन्हें हमारी ही नजर न लग जाय। इसका अभिप्राय यह है कि जो बहुत प्रिय जन हैं, उनकी भी दृष्टि लग जाया करती है। साधक के जीवन में तो ऐसी दृष्टि बहुत लगती है। तात्पर्य यह कि अपने परिवार तथा सम्बन्धियों की दृष्टि साधक के लिए भय उत्पन्न करनेवाली है। माताओं ने तो उसके लिए एक उपाय निकाल लिया है। आपने यह पढ़ा होगा कि माताएँ जब श्रीराम को देखती हैं, तो पहले हाथ में एक तिनका ले लेती हैं –

निरखहिं छवि जननी तृन तोरी।। १/१९८/५

श्रीराम को देखने के बाद पहला काम वे यह करती हैं कि उस तिनके को तोड़ डालती हैं। वे श्रीराम को एकटक नहीं देखतीं। श्रीराम को देखने के बाद तिनके को देखा और फिर तिनके को तोड़कर फेंक दिया। मानो जो कुछ बुरा होने का हो, इस तिनके को हो जाय। तिनका टूट गया, तो अब मेरे बालक का कोई अनिष्ट नहीं होगा। माँ ने तो तिनका तोड़ने का एक उपाय निकाल लिया है, अब अन्य लोग क्या करें? राजा दशरथ ने भी तिनका ही तोड़ा। लोग कहते हैं कि दशरथ जी श्रीराम से प्रेम करते थे और इस प्रेम के कारण उन्होंने प्राण दे दिये। परन्तु गोस्वामी जी कहते हैं –

बंदउँ अवध भुवाल
सत्य प्रेम जेहि रामपद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय
तनु तृन इव परिहरेउ।।१/१६

उन्हें जब लगा कि बन में राम को कष्ट होगा, तो इस कष्ट का निवारण कैसे हो? जैसे माताएँ तिनका तोड़कर बालक का कष्ट-निवारण करती हैं, वैसे ही दशरथ जी ने सोचा कि राम के कष्ट-निवारणार्थ यदि मैं अपने प्राण का ही तिनका तोड़ दूँ, तो मेरा राम सुरक्षित रहेगा। गोस्वामी जी कहते हैं कि दशरथ जी ने अपने शरीर को ही तिनका बना लिया। यह सांकेतिक भाषा है। तो माताएँ दृष्टि से बचाने के लिए तृण का आश्रय लेती हैं, परन्तु जब प्रतिकूल दृष्टि पड़ जाती है और माताओं का वश नहीं चलता, तब गुरु को निमंत्रण दिया जाता है।

गीतावली में गोस्वामी जी ने एक भय और दिखाया है। वहाँ और भी गहरी सांकेतिक भाषा है। गोस्वामी जी कहते हैं कि श्रीराम एक दिन खेलते हुए आँगन में आ गये। महाराज दशरथ के महल-प्रांगण में मणि के खम्भे लगे हुए हैं। श्रीराम ने वहाँ मणिस्तम्भ में अपना सौन्दर्य देख लिया। उन्हें अपनी सुन्दरता ने ऐसा मुग्ध कर लिया कि वे एकटक देखते ही रह गये। सुमित्रा अम्बा ने दूर से देख लिया। वे दौड़कर आयीं और उन्होंने तत्काल अपने दोनों हाथों से राम की दोनों आँखों को मूँद लिया। किसी ने पूछा – आप ऐसा क्यों कर रही हैं। वे बोलीं – यह ऐसे एकटक भाव से अपनी सूरत देख रहा है कि मुझे भय हो रहा है कि कहीं इसे अपनी ही नजर न लग जाय। इसका सांकेतिक अभिप्राय क्या है? यह कि साधक को कभी कभी अपनी ही दृष्टि भी लग जाती है। – कब लग जाती है? – उस समय लग जाती है, जब वह एकाग्र होकर अपनी साधना को ही निहारने लग जाता है।

भगवान राम ईश्वर हैं, वे तो स्वयं को अपने स्वरूप में ही देख रहे हैं। देखें, तो किसे देखें! वे तो आत्माराम पूर्णकाम हैं; परन्तु जब वे लोकदृष्टि में बालक बने हुए हैं, तो बालक के लिए तो यह भय है ही। और जो भय बालक के सामने है, वही साधक के सामने भी है। अर्थात् साधक भय को दूर करने के लिए यह तिनका तोड़ने की कला जानता है या नहीं! साधक के जीवन में इस कला की भी आवश्यकता है। अपने प्रिय जनों की नजर लगने पर माताएँ तिनका तोड़ती हैं। हमें भी इस तिनके को तोड़ने की कला जाननी चाहिए।

❖ (क्रमशः) ❖
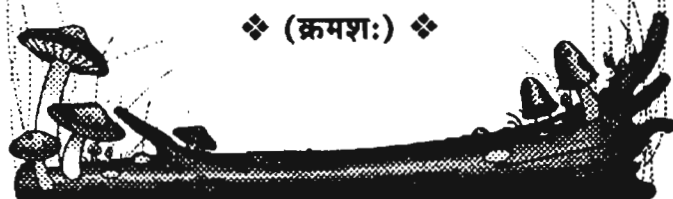
आत्मविश्वास की शक्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

कहा जाता है कि हमें आस्थावान बनना चाहिए, पर प्रश्न उठता है – आस्था किसके प्रति? अपने प्रति या ईश्वर के प्रति आस्थाहीनता को नास्तिकता भी कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द इस नास्तिकता की एक नयी व्याख्या करते हैं – ``Old religion said he was an atheist who did not believe in god, new religion says he is an atheist who does not believe in himself." – अर्थात् "पुराने धर्मों ने कहा कि वह नास्तिक है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है कि वह नास्तिक है, जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।" स्वामीजी का मन्तव्य यह था कि जो अपने आप में विश्वास नहीं करता, उसका ईश्वर में विश्वास करना कोई मायने नहीं रखता। वे तो कहते थे कि यदि तुम तैंतीस करोड़ देवताओं में विश्वास करते हो तथा उनमें भी जो विदेशियों द्वारा यहाँ लाये गये हैं, पर अपने आप में विश्वास नहीं करते, तो यह विश्वास किसी काम का नहीं होगा।

जीवन में सबसे बड़ा पाठ आत्मविश्वास का है। विवेकानन्द यह भी कहा करते थे कि बचपन में और कुछ न पढ़ाकर यदि आत्मविश्वास का ही पाठ पढ़ाया जाय, तो वह व्यक्ति के लिए महान् कल्याणकर होगा। हममें अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं, हमारे भीतर वह अनन्त शक्तिधर ब्रह्म ही छिपा है। पर हममें विश्वास की कमी है, इसीलिए हमारे भीतर का सुप्त शक्तिदेव जागता नहीं है। आत्मविश्वास ही वह रसायन है, जो सोये हुए इस देवता को जगा देता है। वह आत्मविश्वास ही तो है, जो मनुष्य को अन्तरिक्ष चीरकर चन्द्रमा पर जाने की क्षमता प्रदान कर रहा है। विज्ञान के आविष्कार, जो बीते कल असम्भव प्रतीत होते थे, आत्म-विश्वास के ही फल हैं।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि विश्व का इतिहास उन इने-गिने लोगों ने बनाया है, जिनका अपने आप में, अपनी क्षमता में दृढ़ विश्वास था। वे लोग यह मानते थे कि वे महान् होने के लिए ही पैदा हुए हैं और इसीलिए महान् बने।

यदि मनुष्य में आत्मविश्वास हो, तो समुद्र भी गोखुर में समाये जलवत् पार करने में सहज हो जाता है और यदि उसकी कमी हो, तो गोष्पद-जल भी दुर्लंघ्य हो जाता है।

आत्मविश्वास की साधना कठिन नहीं है। रात्रि में सोते समय और सुबह उठते ही अपने भीतर यह भाव उठाना चाहिए कि मुझमें असीम शक्ति है, मेरा अन्तःकरण अनन्त शक्ति का भण्डार है, मेरे रास्ते की बाधाएँ दूर होकर रहेंगी, मुझे अपना अभिप्सित लक्ष्य अवश्य ही प्राप्त होगा। इस चिन्तन का बारम्बार आवर्तन आत्मविश्वास को पुष्ट करेगा। हमारा मन नवीन शक्ति और दृढ़ता का अनुभव करेगा।

केवल एक सावधानी रखनी होगी कि आत्मविश्वास कहीं अभिमान की वृत्ति को न जगा दे। यह स्मरण रखना होगा कि अहकार या अभिमान आत्मविश्वास का पर्याय नहीं है। वास्तव में अहंकार मनुष्य के भीतरी बल को बढ़ाने के स्थान पर उसका क्षय ही अधिक करता है। सच्चा आत्मविश्वासी व्यक्ति निरहंकारी होता है।

❑❑❑

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

माँ के सान्निध्य में (६९)

श्रीमती सरलाबाला देवी

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे थे । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद । – सं.)

उद्बोधन

उन दिनों मैं कलकत्ते के १७ नं. बोसपाड़ा लेन के सिस्टर निवेदिता के स्कूल में पढ़ती थी । एक दिन स्कूल की छुट्टी के बाद सुधीरा दीदी हम चार-पाँच लोगों को साथ लेकर माँ के घर गयीं । माँ मन्दिर में आसन पर बैठी हुई थीं । कुसुम दीदी एक पुस्तक पढ़ रही थीं । हम लोगों के प्रणाम करने पर माँ बोलीं, "बैठो, बेटी ।" और सुधीरा दीदी से वे बोलीं, "अच्छी हो, बेटी? स्कूल की अभी अभी छुट्टी हुई है? ये लड़कियाँ क्या तुम्हारे पास पढ़ती हैं?"

सुधीरा दीदी – हाँ माँ, ये हम लोगों के पास पढ़ती हैं ।

माँ – लड़कियाँ तो अच्छी हैं । (मेरी ओर इंगित करके) यह किनकी लड़की है? बड़ी अच्छी है ।

सुधीरा – यह ब्राह्मण की पुत्री है, निकट ही घर है ।

इन सब बातों के बाद माँ बोलीं, "कुसुम पढ़ो, ये लोग सुनेगी ।" पढ़ना आरम्भ हुआ । सम्भवत: वह 'कृष्ण-चरित' नामक पुस्तक थी । कृष्ण के दूध-दही छीनकर खा लेने का वर्णन सुनकर माँ तथा अन्य सभी लोग खूब हँसने और कहने लगी, "क्या ही दुष्ट बालक है !" थोड़ी देर बाद ही हम लोगों की गाड़ी आ गयी । माँ बोलीं, "तुम लोग अभी जाओगी? थोड़ी देर बैठने से नहीं चलेगा?" फिर सुधीरा दीदी का उत्तर सुनकर वे बोली, "तो फिर जरा जल्दी आया करो, बेटी ।" प्रसाद खाने के बाद हम लोगों ने माँ को प्रणाम करके विदा ली । माँ ने कहा, "आना बेटी, फिर आना ।"

एक अन्य दिन शाम को सुधीरा दीदी मुझे साथ लेकर माँ के घर गयी । माँ तख्त पर एक चटाई बिछाकर लेटी हुई थीं । हम लोगों को देखते ही वे बोल उठीं, "बैठो, बेटी ।" हम लोग प्रणाम करने के बाद बैठ गयीं ।

माँ – तुम्हारे स्कूल की छुट्टी हो गयी? कितने बजे हैं ।

सुधीरा दीदी – आज हम लोगों की थोड़ी जल्दी ही छुट्टी हो गयी है । इस समय साढ़े तीन बज रहे हैं । इसीलिए इन लोगो को ले आयी ।

माँ – अच्छा किया ।

इसके बाद एक बालिका का प्रसंग उठा । माँ बोलीं, "देखो न बेटी, ससुराल नहीं जायेगी, मेरे पास आयी है । जमाई साँवला होने के कारण पसन्द नहीं आया । साँवला है तो क्या तू उसे स्वीकार नहीं करेगी? वह तेरा पति है । ये सब कैसी लड़कियाँ हैं बेटी, मेरी तो समझ में नहीं आता । फिर यह भी सुनती हूँ कि उसका स्वभाव ठीक नहीं है, इसलिए भी जाना नहीं चाहती है । पर होने से भी क्या, तेरी तो उसने उपेक्षा नहीं की । वह उसका पति ही तो है । क्या जानूँ बेटी, ये लड़कियाँ कैसी हैं ! लोग सुनकर क्या सोचेंगे? जो मन में आये, करती रहें ।" इतना कहकर वे कपड़े धोने चली गयीं । विदा लेते समय हमने प्रणाम करके कही, "जाती हूँ, माँ ।" माँ बोलीं, "जाती हूँ – नहीं, आती हूँ – कहना चाहिए । समय पाते ही फिर आना, बेटी ।"

एक शनिवार को सुधीरा दीदी हम लोगों में से कुछ लोगों को साथ लेकर दक्षिणेश्वर से लौटते समय मार्ग में माँ के घर गयीं । माँ तख्त के ऊपर लेटी हुई थीं । हमें देखकर योगेन-माँ बोलीं, "इतनी रात को तुम लोग कहाँ से आ रही हो?" माँ ने पूछा, "कौन आयी हो?" योगेन-माँ ने कहा, "सुधीरा आयी है ।" सुनकर माँ उठकर बैठ गयीं । हम सब भी उन्हें प्रणाम करके बैठ गयीं ।

माँ – इतनी रात को कहाँ से आयी?

सुधीरा दीदी – आज इन लोगों को लेकर दक्षिणेश्वर गयी थी, आरती देखकर लौटते रात हो गयी । मन में आया कि इतने निकट आकर भी क्या चली जाऊँगी? इसीलिए एक बार यहाँ चली आयी ।

"अच्छा किया" – कहकर माँ फिर लेट गयीं । सुधीरा दीदी उनके पाँवों पर हाथ फेरने लगीं । मैं पास ही खड़ी होकर हवा करने लगी । सुधीरा दीदी माँ को दक्षिणेश्वर की बातें सुनाने लगीं ।

माँ – तुम लोगों ने नहबतखाना देखा है न? मैं उसी के निचले कमरे में रहती थी । सीढ़ी के नीचे भोजन पकाती थी ।

सुधीरा दीदी – हाँ माँ, देख आयी । अब भी सीढ़ी के नीचे सामने की ओर चटाई से घेरा हुआ एक चूल्हा है; और मछेरिनों की टोकरियाँ आपके उसी बरामदे में रखी हुई हैं । मैं बालिकाओं से आपकी बात कह रही थी कि आप किस प्रकार

उस कमरे में निवास करती थीं। अच्छा माँ, आप किस प्रकार उस कमरे में रहती थीं? कोई कष्ट नहीं होता था क्या?

माँ – जो कुछ कष्ट था, वह शौच तथा स्नान करने का ही था। वेग को रोकते रोकते आखिरकार पेट में रोग हो गया था। और वे मछेरिने ही मेरी संगिनी थीं। वे लोग गंगास्नान के लिए आकर उसी बरामदे में अपनी टोकरियाँ रखकर नहाने जाती थीं, मेरे साथ बहुत सारी बातें करती थीं। और लौटते समय वे अपनी टोकरियाँ ले जाती थीं। रात के समय मछुवारे मछलियाँ पकड़ते और गीत गाते, मैं उन्हें सुना करती। ठाकुर के पास कितने ही भक्त आया करते थे, भजन-कीर्तन होता, उन्हीं को सुना करती और सोचती – मैं भी यदि उन भक्तों में से एक होती, तो ठाकुर के पास खूब रह पाती और कितनी ही बातें सुनती। ये योगेन, गोलाप आदि सब जानती हैं। ये मेरे पास आया करती थीं और कभी कभी ठहर जाती थीं।

माँ योगेन-माँ की ओर देखती हुई बोलीं, "उन दिनों क्या ही आनन्द था, योगेन!" इतना कहकर वे थोड़ी अन्यमनस्क हो गयीं।

योगेन माँ ने कहा, "वह क्या आनन्द था, इसे क्या मुख से कहकर बताया जा सकता है? स्मरण करने पर आज भी प्राण कैसा कैसा कर उठता है!"

अब माँ हम लोगों की ओर उन्मुख होकर बोलीं, "रात हो गयी है, घर में डाँट तो नहीं खानी पड़ेगी?"

सुधीरा दीदी – हाँ, आज थोड़ी डाँट खायेगी। इसके घर के लोग हम लोगों पर बड़े नाराज हैं। यदि वे सुनें कि यहाँ आयी थी, तो वे इनका सिर काट डालेंगी।

माँ – तो ऐसा है बेटी! ये बच्चियाँ बड़ी डाँट खायेंगी! न जाने कितने प्रकार के लोग हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं। जो लोग समाज को साथ लेकर चलते हैं, उन्हें भय लगा ही रहता है। तुम लोग जाओ, बेटी। अहा, इन्हें कितनी डाँट पड़ेगी!

सुधीरा दीदी – इतना भी यदि सहन न कर सकीं, तो फिर वे करेंगी क्या? आपके आशीर्वाद से उन्हें भय नहीं लगेगा।

माँ – ठाकुर की कृपा से सब सहज हो जायेगा। यदि डाँटे, तो चुप रह जाना। संसार में कितने ही तरह के लोग रहते हैं। सब सहन करके रहना पड़ता है। ठाकुर कहा करते थे, 'श, ष, स – स तीन हैं। जो सहता है, सो रहता है।'

ठाकुर के समक्ष हाथ जोड़कर वे हमारे लिए बोलीं, "ठाकुर, रक्षा करो।" उन्हें प्रणाम करके हमने विदा ली।

छुट्टियों के दौरान एक दिन दोपहर के समय सुधीरा दीदी और हम तीन जन माँ के घर गयी थीं। हम लोगों को देखकर माँ बोलीं, "मन्दिर में बैठो। मैं भोग देकर आती हूँ।" थोड़ी देर बाद माँ के लौट आने पर हम लोगों ने उन्हें प्रणाम किया। माँ ने हम लोगों का कुशल-मंगल जान लेने के बाद पूछा, "उस दिन क्या घर में डाँट पड़ी थी?" हम लोगों ने कहा, "अधिक नहीं। हमें तो उसका बोध तक नहीं हुआ।"

भोजन के उपरान्त माँ ने सुधीरा दीदी को अपने हाथ से मिलाया हुआ प्रसाद दिया। हम लोगों में दो विधवाएँ थीं। उस प्रसाद को खाने में उनके थोड़ा हिचकिचाने पर माँ ने कहा, "तुम लोग खा लो, बेटी; प्रसाद में दोष नहीं लगता।"

इसके बाद माँ थोड़ा लेट गयीं और हम लोगों को भी फर्श पर चटाई बिछाकर सोने को कहा। अपराह्न में माँ ने ठाकुर को उठाने के बाद हम लोगों को प्रसाद दिया और बरामदे में बैठकर सुधीरा दीदी से बातें करने लगीं। एक युवती ने कसीदेकारी से बना हुआ गोपाल का एक चित्र माँ के हाथों में देकर उन्हें प्रणाम किया। उसे देखकर माँ बोलीं, "बेटी, इसे तुमने बनाया है?" युवती बोली, "हाँ, माँ।" माँ ने कहा, "अहा, बड़ा अच्छा हुआ है। मुख पर कितना सुन्दर भाव है! कैसा बनाया है, देखो तो!" ऐसा कहकर वे उसे हम सभी को दिखाने लगीं और बोलीं, "अच्छा हुआ है न?" हमने कहा, "हाँ।" उसे फिर देखकर सिर से स्पर्श कराने के बाद उन्होंने उसे रख देने को कहा और उसके बाद युवती के घर का कुशल-संवाद पूछने के बाद उसे प्रसाद देने को कहा।

गोलाप-माँ के आते ही माँ ने उन्हें वह चित्र दिखाते हुए कहा, "देखो तो, कितना सुन्दर हुआ है!" उस युवती की ओर इंगित करती हुई बोलीं, "इसे बहू-माँ ने बनाया है।" गोलाप-माँ ने चित्र का निरीक्षण करने के बाद कहा, "सब कुछ बड़ा अच्छा हुआ है, बस केवल बाँया हाथ थोड़ा मोटा हो गया है।" हम लोग हँसने लगीं। माँ भी हँसते हुए कहने लगीं, "गोलाप ने आकर दोष निकाल दिया। इन लोगों की पसन्द अलग है, बेटी। गोलाप ने बहुत-कुछ देखा-सुना है न, इसीलिए पसन्द नहीं आता। गोलाप का कार्य बड़ा सुघड़ होता है और वह अनेक प्रकार के कार्य जानती है। ठाकुर की जितनी भी चीजें हैं, सब गोलाप की बनायी हुई हैं। फिर भक्तों की भी मच्छरदानियाँ, तकिये, उनके खोल आदि सब गोलाप ही करती है। उसके शरीर में आलस्य का नाम तक नहीं है।"

संध्या होने के थोड़ा पहले वह युवती माँ को प्रणाम करके विदा ले रही है। माँ ने कहा, "फिर आना, बेटी।"

योगेन-माँ आकर माँ को प्रणाम करने के बाद बैठ गयीं। अन्य बातों के बाद माँ ने उन्हें भी वह चित्र दिखाकर कहा, "कैसा किया है, देखो तो! मुख पर क्या ही सुन्दर भाव है!" योगेन-माँ बोलीं, "अच्छा तो हुआ है। किसने किया है? बड़ा अद्भुत हुआ है!" माँ ने उस युवती का परिचय देते हुए कहा, "गोलाप कहती है कि बाँया हाथ मोटा हो गया है।" योगेन-माँ बोलीं, "उसकी बातें रहने दो।" ❖(क्रमशः)❖

जीना सीखो (१७)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

वैज्ञानिकों द्वारा वेदान्त-दर्शन का समर्थन

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की मूलभूत एकता ही प्राच्य धर्मगुरुओं की अनुभूतियों का प्रमुख तत्त्व है। आधुनिक भौतिक-वैज्ञानिकों ने भी इसी सत्य का आविष्कार किया है। यह एकता अणु के स्तर पर ही अभिव्यक्त हो जाती है।

"क्वांटम-सिद्धान्त हमें सृष्टि को भौतिक वस्तुओं के समूह के रूप में नहीं, वरन् एक ही संयुक्त अखण्ड वस्तु के विभिन्न भागों के बीच जटिल सम्बन्धों के रूप में देखने को बाध्य करता है।" — *डॉ. काप्रा*

"ब्रह्माण्ड अपने विराट् रूप से अलग, मूलभूत भौतिक तत्त्वों की एक ऐसी पृष्ठभूमि के रूप में व्यक्त होता है, जिसमें प्रत्येक तारा, प्रत्येक अणु, प्रत्येक घूमता हुआ धूमकेतु तथा धीरे धीरे चलती हुई आकाशगंगा और उड़ता हुआ प्रत्येक इलेक्ट्रॉन अपने पीछे निहित देश-काल रूपी अखण्ड में एक तरंग के रूप में प्रतिभात होता है।

"इस प्रकार जगत् के विषय में मानव के सभी दृष्टिकोण तथा सत्य-विषयक उसकी कल्पनाएँ अन्त में एकाकार हो जाती है और सृष्टि की गहराइयों में निहित अखण्डता का उसे प्रत्यक्ष बोध होने लगता है।" — *लिंकन बर्नेट*

"असंख्य तारे और सूक्ष्म परमाणु न केवल एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, बल्कि एक-दूसरे के अभिन्न अंगों के रूप में स्थित रहते हैं। — *वी. रेडनिक*

"चूँकि गति एवं परिवर्तन वस्तुओं के मूलभूत गुण हैं, अत: गति देनेवाली शक्तियाँ वस्तुओं के बाहर नहीं, बल्कि पदार्थ का ही एक आन्तरिक गुण है। इसी प्रकार प्राच्य दृष्टिकोण से ईश्वर को ऊपर से जगत् को चलानेवाले एक बाह्य शासक नहीं, अपितु भीतर से सब कुछ नियंत्रित करनेवाले तत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है।" — *डॉ. काप्रा*

इस प्रकार जब हम वस्तुओं की गहराई में जाते हैं, तो हम उनके पीछे निहित मूलभूत एकता का अधिकाधिक आभास पाते हैं। आधुनिक भौतिकी तथा प्राच्य दर्शनों द्वारा आविष्कृत सिद्धान्तों की तुलना करने पर निष्कर्ष के रूप में सभी पदार्थों तथा शक्तियों की एकता ही सत्य प्रमाणित होता है। जब हम परमाणु भौतिकी के विविध पक्षों का अध्ययन करते हैं, तो हमें बारम्बार यही अन्तर्बोध होता है। सभी पदार्थों के मूलभूत घटक तथा उनसे उत्पन्न होनेवाली क्रियाएँ परस्पर सम्बन्धित, आपस में जुड़ी हुई तथा अन्योन्याश्रित हैं। हम इन घटकों को अलग अलग करके उनका अध्ययन नहीं कर सकते। हमें उन सबको एक ही अखण्ड के अंश मानना होगा।

क्रमविकास की पद्धति

प्रसिद्ध जीव-वैज्ञानिक जे. एस. हाल्डेन ने देखा कि एक ही शक्ति जगत् में विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है और उन्होंने (अपने 'द साइंस एण्ड फिलॉसाफी' – 'विज्ञान और दर्शन' नामक ग्रन्थ में) कहा, "स्वाभाविक वस्तु के विषय में हमारी संकीर्ण दृष्टि ही हमारे अपने भीतर और अपने चारों ओर सर्वत्र ईश्वर की उपस्थिति का बोध करने में बाधक होती है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है और देश-काल के सम्बन्ध उसके नियम की अभिव्यक्ति मात्र हैं। प्रकृति ईश्वर की अभिव्यक्ति है और क्रमविकास जैविकीय या भौतिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि काल का नियम – उसकी अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध हैं।" एक ओर चार्डिन ने ('फेनामेनॉं ऑफ मैन' – 'मानव रूपी घटना' नामक ग्रन्थ में) कहा है कि यह क्रमविकास की प्रक्रिया मानो किसी विराट् जीव के द्वारा चलायी जाती है, जबकि डॉ. जे.बी.एस. हाल्डेन ने अपनी ('यूनिटी एण्ड डाइवरसिटी ऑफ लाइफ' – 'जीवन की एकता व विविधता' नामक) पुस्तक में कहते हैं, "इस शताब्दी में हुए भौतिकी के दो आविष्कारों में महत्वपूर्ण दार्शनिक तात्पर्य निहित है। एक तो है आइन्स्टीन का यह मत – "काल तथा स्थान, एक ही प्रकार के सम्बन्ध के विभिन्न पहलू हैं।" दूसरा है – "सूक्ष्मतम परमाणुओं के बीच का भेद सत्य नहीं है।" यह सिद्धान्त हमें यह विश्वास करने में सहायता करता है कि तुममें और मुझमें, मेरे और मच्छर के बीच का भेद पूर्ण नहीं है। मन में इसी विचार को लिए प्रोफेसर रेंच ने मुनेस्टर के जैव-संग्रहालय की दीवार पर उपनिषद् की 'तत्त्वमसि' उक्ति खुदवा दी थी। इस विषय में आइन्स्टीन का मत इस प्रकार है, "मेरा धर्म एक असीम परमात्मा की सविनय प्रशंसा के रूप में है, जो स्वयं को उन छोटे-मोटे विवरणों के रूप में प्रकट करता है, जिन्हें हम अपने निर्बल मनों के द्वारा देख पाते हैं। इस अबोधगम्य ब्रह्माण्ड में व्यक्त हो रहे एक परम युक्तिमय-शक्ति में गहन भावपूर्ण आस्था ही मेरी ईश्वर-विषयक धारणा है।"

सन् १९६९ ई. के 'ट्रांसपरसनल साइकॉलाजी' ('अव्यक्तिगत मनोविज्ञान') के शीतकालीन अंक में एक विशेष लेख छपा था। इस लेख के विभिन्न भागों में भौतिकी, खगोल शास्त्र,

अन्तरिक्ष-विज्ञान आदि क्षेत्रों के विख्यात वैज्ञानिकों तथा रहस्यवादी दार्शनिकों के उद्धरण, उनके नामो का उल्लेख किये बिना ही दिये गये थे। केवल लेख के अन्त मे दी गयी टिप्पणी में ही इन उद्धरणों के स्रोत तथा उनके लेखकों के नाम दिये गये थे। इन टिप्पणियों को देखे बिना वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की उक्तियों के बीच भेद कर पाना कठिन था। दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिकों तथा तत्ववेत्ताओ के कथनों के बीच विलक्षण समानता थी। इस विषय में रुचि रखनेवालों को डॉ. काप्रा की पुस्तक पढ़नी चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो की धर्ममहासभा में भारत का प्रतिनिधित्व करने के बाद लौटकर कुम्भकोणम में अपने स्वागत का उत्तर देते हुए, आइन्स्टीन द्वारा सापेक्षता का सिद्धान्त प्रकाशित कराये जाने के आठ वर्ष पूर्व ही कहा था –

"समग्र संसार का आध्यात्मिक एकत्व रूपी यह महान् सनातन तत्त्व सम्भवत: ऊँची जातियों की अपेक्षा छोटी जातियों के लिए, शिक्षितों की अपेक्षा मूक जनता के लिए और बलवानों की अपेक्षा दुर्बलों के लिए ही अधिक आवश्यक है। मद्रास विश्वविद्यालय के शिक्षित सज्जनो, आपको विस्तार-पूर्वक यह नही बताना पड़ेगा कि यूरोप की वर्तमान वैज्ञानिक अनुसन्धान-प्रणाली किस तरह भौतिक दृष्टि से सारे जगत् का एकत्व सिद्ध कर रही है! भौतिक दृष्टि से भी हम, तुम, सूर्य, चन्द्र और सितारे इत्यादि सब अनन्त जड़-समुद्र की छोटी छोटी तरंगों के समान हैं। इधर सैकड़ों सदियों पहले भारतीय मनोविज्ञान ने जड़विज्ञान की तरह यह प्रमाणित कर दिया है कि शरीर और मन दोनों ही समष्टि रूप में जड़-समुद्र की क्षुद्र तरंगे हैं, फिर एक कदम आगे बढ़कर वेदान्त में दिखाया गया कि जगत् के इस एकत्व भाव के पीछे जो आत्मा है, वह भी एक ही है। समस्त ब्रह्माण्ड में केवल एक आत्मा ही विद्यमान है – सब कुछ एक उसी की सत्ता है। विश्व-ब्रह्माण्ड की जड़ में वास्तव में एकत्व है, इस महान् सत्य को सुनकर बहुतेरे लोग डर जाते हैं। दूसरे देशों की बात तो दूर रही, इस देश में भी इस सिद्धान्त के माननेवालों की अपेक्षा इसके विरोधियों की संख्या ही अधिक है। तो भी तुम लोगों से मेरा कहना है कि यदि कोई तत्त्व संसार हमसे ग्रहण करना चाहता है और भारत की मूक जनता अपनी उन्नति के लिए चाहती है, तो वह यही जीवनदायी तत्त्व है। क्योंकि कोई भी हमारी इस मातृभूमि का पुनरुत्थान अद्वैतवाद को व्यावहारिक और कारगर तरीके से कार्यरूप में परिणत किये बिना नहीं कर सकता।"

प्रत्येक वस्तु की गहराई में जाने पर हमें इस एकत्व की झलक मिलती है। यदि हम ऊँचे-नीचे, धनवान-निर्धन, देवता-मानव, नर-पशु आदि विभिन्न समूहों की गहराई में प्रवेश कर सकें, तो हमें उनके भीतर एकत्व का बोध होता है। ये सभी एक ही तत्त्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

परमाणुओं की लीला

परमाणु के स्तर पर वैज्ञानिक भी इस एकता का अनुभव करता है। यद्यपि विभिन्न पदार्थ विभिन्न प्रकार के गुणोंवाले अणुओं से बने हैं, तथापि विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि सारे पदार्थ मूलभूत परमाणु रूपी ईटों से ही बने हैं।

यदि हम कल्पना कर सकें कि एक पेंसिल की नोंक जैसे छोटे से ब्रिन्दु में १० लाख परमाणु समा सकते हैं और इसके बाद भी कुछ स्थान खाली रह जाता है, तो हम परमाणु की सूक्ष्मता को समझ सकते हैं। अंगूर में बीज के समान परमाणु के भीतर नाभिक या न्युक्लियस होता है। फिर परमाणु में प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन नामक उससे भी सूक्ष्म इकाइयाँ होती हैं, जो ४०००० मील प्रति सेकेण्ड की तीव्र गति से परमाणु के भीतर ही घूमती रहती हैं। इलेक्ट्रॉन नामक इनसे भी सूक्ष्म कण नाभिक के चारों ओर घूमते रहते हैं। जब एक पंखा तेजी से घूमता है, तो हमें उसके डैने अलग अलग नहीं दिखाई देते, बल्कि पूरा पंखा ही घूमता-सा दिखाई देता है, इसी प्रकार यद्यपि नाभिक तथा घूमते हुए इलेक्ट्रॉनों के बीच खाली स्थान होता है, परन्तु चूँकि इलेक्ट्रॉन ६०० मील प्रति सेकेण्ड की तीव्र गति से घूमते रहते हैं; चरम ऊर्जा के प्रतिरूप और पदार्थों के मूलभूत तत्त्व – परमाणुओं में निरन्तर गति बनी रहती है। ये पदार्थ हमारे भोजन, ईधन, वस्त्र, या अन्य असंख्य वस्तुओं के रूप में हमारे काम आते हैं, या वे हमारे शरीर के ताने-बानों के रूप में उसके विभिन्न अवयवों के निर्माण के साधन बन जाते हैं, मानव-जाति का रूप ले लेते हैं, अथवा सूक्ष्म अणु के आकार के जीन बनकर आनुवंशिकता का नैरंतर्य बनाये रखते हैं।

टाइपों के कागज पर मुद्रण से पुस्तकें बनती हैं। और अर्थपूर्ण वाक्य बनाने के लिए टाइप के अक्षरों को एक विशेष क्रम में सजाया जाना चाहिए। इन टाइपों के संयोजन में एक क्रम तथा व्यवस्था होती है। जब हम उनके द्वारा छपे हुए अक्षरों को पढ़ते हैं, तो उनका अर्थ समझ लेते हैं। हमें जरा भी सन्देह नहीं होता कि टाइपों का विशिष्ट क्रम लेखक की इच्छानुसार सजाया जाता है। यह अतिजटिल, विविधतापूर्ण तथा रहस्यमय जगत् भी क्रमहीन, अनियमित तथा अव्यवस्थित प्रणाली नहीं है। आइन्स्टीन का सूत्र बताता है कि यह जगत् गणित के सूत्र के समान नियम-निष्ठता से चलता है। हमें सूक्ष्म तथा विराट् ब्रह्माण्ड में दिखनेवाली ऐसी पूर्ण व्यवस्थित प्रणाली के पीछे स्थित इसके नियन्ता परमेश्वर के हाथ की खोज करनी होगी। आइंस्टीन के शब्दों में, "ईश्वर सूक्ष्म है, पर पक्षपाती नहीं; ईश्वर ब्रह्माण्ड में पासा नहीं खेलता।" यहाँ हम कोई अव्यवस्था या नियम का अभाव नहीं देखते। इस जगत् की आपात् अव्यवस्था के पीछे हमे एक क्रम या प्रणाली दीख पड़ती है। इसमें हमें ईश्वर की सृष्टि का सूक्ष्म, पर स्पष्ट

दर्शन होता है। वैज्ञानिक पद्धति द्वारा वस्तुओं के सच्चे स्वरूप का शोध करने में सक्षम व्यक्ति का मन निश्चित रूप से आध्यात्मिक आदर्शों तथा भावों से जुड़ा होगा। सच्चे वैज्ञानिक मन में सच्चा धार्मिक दृष्टिकोण अवश्य होगा। परम सत्य की खोज करने की इच्छा तथा क्षमता रखनेवाला वैज्ञानिक अवश्य ही एक धार्मिक व्यक्ति होगा। आइंस्टीन के शब्दों में, "धर्मरहित विज्ञान लँगड़ा और विज्ञानरहित धर्म अन्धा है।"

ब्रह्माण्ड की पृष्ठभूमि में परमेश्वर

परमात्मा रूपी दिव्य तत्त्व सर्वव्यापी है और सर्वदा सभी वस्तुओं का स्वामी है। भगवद्गीता के मतानुसार सर्वशक्तिमान परमात्मा सभी प्राणियों में स्थित है; और स्वयं नित्य एवं निर्लिप्त रहकर अपनी माया की शक्ति से सबको मशीन के समान परिचालित करता है। जिन लोगों ने अणुओं तथा परमाणुओं के भीतर की गति का अवलोकन किया है, उन्हें उपरोक्त कथन की सत्यता का बोध होगा। उपनिषदों में वर्णित परमात्मा के लक्षणों में सभी धर्मों के ईश्वर-विषयक मूलभूत बातें आ गयी हैं। उनमें ईश्वर के सगुण तथा निर्गुण – दोनों ही रूपो के विचार हैं। वे कुछ हद तक ब्रह्माण्ड-नियंत्रक सत्ता के विषय में वैज्ञानिकों की दृष्टि से मेल खाते हैं, पर वस्तुत: वे इन वैज्ञानिक दृष्टियों से भी आगे निकल गये हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६/११) के इस श्लोक में यही मर्म देखा जा सकता है –

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

– वह अद्वितीय है, तथापि सबमें छिपा है। वह सर्वव्यापी है, सबकी अन्तरात्मा है। वह सभी को उनके कर्मो का फलदाता और सबका आधार, चेतनाप्रदाता, साक्षी तथा निर्गुण है।

उपनिषदों ने आत्मा के वास्तविक स्वरूप की खोज से आरम्भ करके, बारम्बार परमात्मा की सर्वव्यापकता तथा एकता पर बल दिया है।

श्रीरामकृष्ण का कहना था, "ईश्वर सभी में हैं, परन्तु सभी लोग ईश्वर में नहीं रहते।" परमात्मा सबमें विद्यमान है, परन्तु यह परम सूक्ष्म होने के कारण मनुष्यों की सामान्य दृष्टि के परे होता है। मानव की सत्य-विषयक धारणा उसकी साधारण समझ तक सीमित है। वह अपनी उन पारिवारिक तथा पारिवेशिक परिस्थितियों द्वारा बद्ध है, जिनमें उसका जन्म तथा पालन-पोषण हुआ है। भेड़ों के बीच में पला बाघ का बच्चा अपने को भेड़ ही समझता रहा। बचपन से ही धोबी के घर में पला हुआ राजकुमार स्वयं को धोबी ही समझता रहा। 'मैं' मांस, रक्त, नसो तथा स्नायुओं से मिलकर बना हूँ और एक विशेष जाति, वर्ग तथा धर्म में पैदा हुआ हूँ – अपने विषय में ऐसी धारणा के साथ ही मानव-जीवन के सभी साधारण कर्म सम्पन्न होते हैं। मनुष्य अपने अन्दर की गहराई में जाकर अपने सच्चे स्वरूप का बोध नहीं करता। यदि उसे युक्तियों के द्वारा यह बात बारम्बार समझायी जाय, तो भी वह इस पर विश्वास नहीं करता। परन्तु आज की नवीनतम वैज्ञानिक खोजों के प्रकाश में वस्तुओं की वास्तविकता को समझना असम्भव नहीं है। इसकी एकमात्र शर्त है – सत्य को जानने की सच्ची इच्छा।

"यह सब कुछ परम तत्त्व है।" "यह सब कुछ ब्रह्म ही है।" "यह ब्रह्म अद्वैत है।" "यह आत्मा ही ब्रह्म है।" "मैं ही परब्रह्म हूँ अर्थात् परब्रह्म ही मेरा स्वरूप है।" "वह ब्रह्म तू ही है।" "वह परब्रह्म शुद्ध चैतन्यमय है।"

परम सत्य के स्वरूप विषयक उपनिषदों की ये उक्तियाँ महान् ऋषियों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। धार्मिक लोग या भक्तगण उन्हें इस प्रकार समझेंगे तथा व्यक्त करेंगे –

ईश्वर हमारे भीतर सर्वदा विद्यमान है; उसी से हम अपना अस्तित्व, ऊर्जा तथा शक्ति प्राप्त करते हैं। हम उसी में रहते, चलते-फिरते और अन्तत: लौट जाते हैं। पूरी सृष्टि के पीछे वही विद्यमान है। वह अतुलनीय है। वह सर्वव्यापी अद्वैत तत्त्व शाश्वत है। यदि हम इसे ठीक ठीक समझ लें, तभी यह हममें परिवर्तन ला सकता है। इस तत्त्व को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें बौद्धिक स्तर पर इसमें विश्वास करना होगा। हमारा मन पूरी तौर से ईश्वर में विश्वास करे। तब हमारे जीवन में सच्चे ज्ञान का अरुणोदय होगा।

यह सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर हमारी व्यक्ति-सम्बन्धी धारणा के समान व्यक्ति नहीं होता, परन्तु जब हम प्रेम-भक्ति के साथ उसकी ओर अग्रसर होते हैं, तो वह व्यक्ति का रूप धारण कर सकता है। वह अपने भक्त द्वारा इच्छित कोई भी रूप धारण कर सकता है।

ईश्वर की चाहे जिस रूप में भी धारणा की जाय, उसके चिन्तन मात्र से ही मनुष्य के अन्दर तथा बाहर का सब कुछ पवित्र हो जाता है।

परमात्मा का गौरव

भोजन के पीछे भागे दिन में,
वासना के पीछे भागे रात में।
प्यासा धोबी मर गया जल में,
चेन्नमल्लिकार्जुन[१] हृदय में,
आया न पर दर्शन में॥

— अक्का महादेवी

बाह्य जगत् की पृष्ठभूमि के रूप में स्थित तत्त्व ही व्यक्ति के आन्तरिक जगत् की भी पृष्ठभूमि सिद्ध हुआ; दूसरे शब्दों में

१. भगवान शिव का एक नाम

वस्तुनिष्ठ तत्त्व परमात्मा और व्यक्तिनिष्ठ आत्मा एक ही हैं।[२]

जैसे वैज्ञानिक मानते हैं कि परमाणु की संरचना जान लेने पर हम सम्पूर्ण भौतिक जगत् का रहस्य समझ सकते हैं, वैसे ही आत्मद्रष्टा लोग कहते हैं कि अपनी आत्मा को जानने से हमें सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

व्यक्ति जीवन के चाहे जिस क्षेत्र में क्यों न स्थित हो, यह ज्ञान उसके जीवन को उन्नत बनाने में सहायता कर सकता है। आइए, हम देखें कि यह किस प्रकार हो सकता है –

"सब कुछ अनन्त के गर्भ में स्थित रहता है। परम तत्त्व सर्वव्यापी है।" समस्त ऊर्जा का यही स्रोत है। अपनी उन्नति तथा विकास के लिए आवश्यक सारी शक्तियाँ हमारे भीतर ही हैं। हमारी क्षमता के परे कुछ भी नहीं है। इस तत्त्व में हमारी श्रद्धा हममें शक्ति को जगा देती है।

सत्य पवित्र है। सत्य ज्ञान है। सत्य सभी वस्तुओं को आलोकित करता है। यह शक्ति एवं साहस लाता है। यह हमारे भीतर विद्यमान है। हमारी दृढ़ श्रद्धा ही इसके प्रकटीकरण में सहायक होती है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "क्या तुम जानते हो कि तुम्हारे इस शरीर के भीतर कितनी ऊर्जा, कितनी शक्तियाँ, कितने प्रकार के बल अब भी छिपे पड़े हैं? मनुष्य में जो है, उन सबका ज्ञान कौन-सा वैज्ञानिक प्राप्त कर सकता है? लाखों वर्षों से मनुष्य पृथ्वी पर है, किन्तु अभी तक उसकी शक्ति का केवल अणु मात्र अंश ही अभिव्यक्त हुआ है। अतएव तुम क्यों जबरन स्वयं को दुर्बल कहते हो? ऊपर से दिखनेवाली इस पतितावस्था के पीछे क्या सम्भावना है, क्या तुम यह जानते हो? तुम्हारे अन्दर जो है, उसका थोड़ा-सा ही तुम जानते हो। तुम्हारे पीछे शक्ति और आनन्द का अपार सागर विद्यमान है।"

दुनिया हमसे एक महान् सन्देश की अपेक्षा कर रही है, उस सत्य के सन्देश की, जो अत्यन्त शक्तिशाली, प्राणप्रद तथा पुनर्जीवन में सक्षम होगा। सर्वोपरि तो भारतीय उपमहाद्वीप के करोड़ों लोगों के उत्थान हेतु इसकी जरूरत है। जब तक हम परम तत्त्व के ज्ञान से व्यावहारिक लाभ उठाने का सच्चा प्रयास नहीं करते, तब तक हम अपनी मातृभूमि को आलोकित नहीं कर सकते। इस तत्त्व को आत्मसात् करके ही हम वह प्रचण्ड इच्छाशक्ति पैदा कर सकते हैं, जो हमारे जगत् की मुक्ति के लिए आवश्यक है।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा बार बार दिए इस सन्देश में प्रचण्ड इच्छाशक्ति व कर्मशक्ति का भाव है, जो हमारी जनता में दृढ़ आत्मविश्वास के द्वारा ही जाग्रत हो सकता है। यही वह सन्देश है, जिसने स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में हमारे देशभक्तों को उत्साहित करके सेवा तथा बलिदान का जीवन अपनाने को प्रेरित किया। यदि मनुष्य को अपनी दिव्यता, अपने में छिपी महाशक्ति पर विश्वास हो, तो वह अद्भुत कर्म कर सकता है। वह बचपन से ही अपनी आत्म-धारणा से संलग्न नकारात्मक तथा दुर्बलतापूर्ण भावों को दूर कर सकता है। ऊर्जा, महिमा, पवित्रता, एकाग्रता तथा साहस – जीवन में उन्नति के लिए जरूरी ये सभी गुण आत्मविश्वास से आ जाते हैं। सभी को, विशेषकर युवा लोगों को स्वामी विवेकानन्द द्वारा मद्रास में प्रदत्त बलप्रद उदात्त सन्देश के अर्थ पर विचार करना चाहिए –

"पूरी दुनिया में अपने धर्म के महान् सत्यों का प्रचार करो, संसार इनकी प्रतीक्षा कर रहा है। सैकड़ों वर्षों से लोगों को मनुष्य की हीनावस्था का ही ज्ञान कराया गया है। उनसे कहा गया है कि वे कुछ नहीं हैं। संसार भर में सर्वत्र सर्वसाधारण से कहा गया है कि तुम लोग मनुष्य ही नहीं हो। शताब्दियों से इस प्रकार डराये जाने के कारण वे बेचारे सचमुच ही करीब करीब पशुत्व को प्राप्त हो गये हैं। उन्हें कभी आत्मतत्त्व के विषय में सुनने का मौका नहीं दिया गया। अब उन्हें आत्मतत्त्व सुनने दो, यह जान लेने दो कि उनमें से नीच-से-नीच में भी आत्मा विद्यमान है – वह आत्मा, जो न कभी मरती है, न जन्म लेती है, जिसे न तलवार काट सकती है, न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है, जो अमर है, अनादि और अनन्त है, जो शुद्धस्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। उन्हें अपने आप में विश्वास करने दो। आखिर अंग्रेजों में और तुममें क्यों इतना अन्तर है? उन्हें अपने धर्म, अपने कर्तव्य आदि के सम्बन्ध में कहने दो। पर मुझे भेद का कारण ज्ञात हो गया है। भेद यही है कि अंग्रेज अपने ऊपर विश्वास करता है, और तुम नहीं। जब वह सोचता है कि मैं अंग्रेज हूँ, तो वह उस विश्वास के बल पर जो चाहता है, वही कर सकता है। इस विश्वास के आधार पर उसके अन्दर छिपा हुआ ईश्वर-भाव जाग उठता है। और तब वह जो चाहे, वही करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत, लोग तुमसे कहते और सिखाते आये हैं कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, और इसके फल-स्वरूप तुम प्रतिदिन अकर्मण्य होते जा रहे हो। आज हमें जो चाहिए, वह है – बल, अपने आप में अटूट विश्वास लाओ।"

❖ (क्रमशः) ❖

---

२. इस सत्य की पुष्टि करते हुए डॉ. काप्रा कहते हैं, "ऋषियों के विपरीत भौतिक-विज्ञानी वस्तुओं के स्वरूप की खोज, जड़ जगत् के अध्ययन से शुरू करता है। पदार्थ के गहनतर स्तरों में पहुँचकर उसने सभी वस्तुओं तथा घटनाओं की मूलभूत एकता को समझा है। इससे भी ऊपर उसने यह भी जान लिया है कि वह स्वयं तथा उसकी चेतना उसी एकता के अविभाज्य अंग हैं। इस प्रकार ऋषि तथा भौतिकविज्ञानी, एक अन्तर्जगत् से और दूसरा बाह्य जगत् से आरम्भ करके – एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उनके दृष्टिकोणों में साम्य, भारत के इस प्राचीन ज्ञान का समर्थन करता है कि ब्रह्मरूपी बाह्य परमतत्त्व आत्मारूपी आन्तरिक तत्त्व से एक और अभिन्न है। (ताओ ऑफ फिजिक्स – भौतिकी का मार्ग पृ. ३०५)

ईसप की नीति-कथाएँ (१७)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

नेवले और चूहे

चूहों तथा नेवलों में निरन्तर युद्ध होता रहता था, जिसमें काफी रक्तपात हुआ। हर बार नेवलों की ही विजय हुआ करती थी। चूहों ने सोचा कि चूँकि उनकी सेना में अलग से सेनानायकों की नियुक्ति नहीं हुई है, इसीलिए अनुशासन की कमी के कारण ही यह हानि उठानी पड़ रही है। अत: उन लोगों ने अपने कुल, बल आदि से सर्वाधिक प्रसिद्ध चूहों को अपना नायक चुन लिया और अपनी सेना को टुकड़ियों में बाँटकर उनके लिए अलग अलग अधिकारी नियुक्त कर दिये। यह सब होने के बाद जब सेना में अनुशासन की स्थापना हो गयी, तब चुहों की सेना ने नेवलों के खिलाफ युद्ध की घोषणा करके उन पर धावा बोल दिया। नव-नियुक्त सेनानायकों ने अपनी अलग पहचान के लिए अपने अपने सिरों को पुआल से बाँध लिया था। अभी युद्ध आरम्भ ही हुआ था कि चूहों में भगदड़ मच गयी और वे जितनी तेजी से हो सका, अपने अपने बिलों में भागकर छिप गये। परन्तु सेना के अधिकारी सिरों पर आभूषण बँधा होने के कारण अपने बिलों में घुस नहीं सके और नेवलों द्वारा पकड़कर खा लिए गये।

जितना ही सम्मान मिलता है, जीवन में खतरे भी उतने ही अधिक होते हैं।

नदियाँ और समुद्र

एक बार सभी नदियों ने एकत्र होकर समुद्र से शिकायत करते हुए कहा, "हम सभी इतने मधुर तथा पेय रूप में तुम्हारे अन्दर प्रवेश करती हैं और क्यों तुम हमें इतना बदल देते हो कि नमकीन तथा पीने के अयोग्य हो जाती है?" समुद्र ने देखा कि वे लोग सारा दोष उसी पर मढ़ने पर आमादा हैं, अत: वह बोला, "ठीक है, तुम लोग मुझमें बहना बन्द कर दो, तब तो तुम खारी होने से बच जाओगी।

कुत्ते और उसका मालिक

एक व्यक्ति तूफान के कारण अपने गाँव के मकान में फँस गया था। तूफान थमने का नाम ही नहीं ले रहा था। बाहर से खाद्य-पदार्थ लाने का कोई उपाय न देखकर अपने परिवार के भोजन के लिए सबसे पहले उसने अपनी भेड़ को मारा, उसके बाद बकरियों को मारकर काम चला। परन्तु तूफान के फिर भी न रुकने पर उसने अपना सामान ढोनेवाले घोड़े को भी मार डाला। यह देखकर घर के कुत्तों ने मिलकर आपस में सलाह की, "अब समय आ गया है कि हम यहाँ से भाग निकलें, क्योंकि जब मालिक ने अपने काम में आनेवाले घोड़े को मार डाला है, तो फिर हम भला बचने की कैसे उम्मीद करें?"

उस मित्र पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता, जो अपने परिवार के साथ ही दुर्व्यवहार करता है।

खिलाड़ी गधा

एक गधा अपने मालिक के घर की छत पर चढ़ गया और उसी पर उछल-कूद करते हुए उसने कई खपरैल तोड़ डाले। गधे का खेल देखकर मालिक भी उसके पीछे छत पर जा पहुँचा और उसे लकड़ी के एक मोटे सोटे से बुरी तरह पीटता हुआ नीचे ले आया। गधा बोला, "क्यों भैया, कल बन्दर भी तो ऐसा ही कर रहा था और आप सभी लोग जी खोलकर हँस रहे थे, मानो उसने आपका बड़ा मनोरंजन किया हो।"

बिना समझे-बुझे दूसरों की नकल करना ठीक नहीं।

तीन व्यापारी

एक बड़ा नगर चारों ओर से शत्रुओं द्वारा घेर लिया गया था, अत: रक्षा का उपाय सुझाने के लिए सभी नागरिकों की एक सभा बुलाई गयी थी। ईंटों के व्यापारी ने सच्चे दिल से ईटों को ही शत्रुओं से बचाव का श्रेष्ठ साधन बताया। बढ़ई ने भी उतने ही उत्साह के साथ कहा कि नगर की रक्षा के लिए लकड़ी से बढ़कर और कोई सामग्री नहीं हो सकती। इस पर एक चर्मकार उठ खड़ा हुआ और बोला, "महाशय, मैं आप सभी से पूर्णत: असहमत हूँ। आत्मरक्षा के लिए भगवान ने चमड़े से अच्छी कोई चीज बनाई ही नहीं, अत: नगर को चमड़े की दीवारों से घेर दिया जाय।

सभी लोग चीजों को अपने अपने नजरिये से ही देखते हैं।

मूर्ति को ढोनेवाला गधा

एक बार एक गधा एक प्रसिद्ध काष्ठमूर्ति को ढोकर एक नगर की सड़कों से होकर जा रहा था। वह मूर्ति नगर के ही एक मन्दिर में स्थापित की जानी थी। चलते चलते उसने देखा कि लोगों की भीड़ मूर्ति के सामने झुककर प्रणाम कर रही है। यह सोचकर कि लोग उसी के प्रति सम्मान व्यक्त कर रहे हैं, गधे का सिर गर्व से उन्नत हो गया और उसने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। हाँकनेवाले ने उसे इस प्रकार रुक जाते देखकर उसके गर्दन पर कोड़े बरसाते हुए कहा, "अरे मूर्ख, अभी तक ऐसा समय नहीं आया है कि आदमी गधों की पूजा करेंगे।"

दूसरों के लिए नियत सम्मान को स्वयं ग्रहण कर लेने का प्रयास करनेवाले बुद्धिमान नहीं हैं।

डाल्फिन, ह्वेल तथा छोटी मछली

डाल्फिनों तथा ह्वेल मछलियों में भयानक युद्ध छिड़ा हुआ था। तभी एक छोटी मछली ने लहरों में से अपना सिर उठाकर पूछा कि क्या वे उसे अपने झगड़े का निपटारा करने में बिचौलिए के रूप में स्वीकार करेंगी? एक डाल्फिन ने उत्तर दिया, "अपने मामले में तुम्हारा हस्तक्षेप स्वीकार करने के स्थान पर हम लोग आपस में लड़ते हुए मर जाना पसन्द करेंगी।"

हर किसी को अपनी औकात समझकर बातें कहनी चाहिए।

मधुमक्खी और बृहस्पति

एक बार हैमेटस पर्वत की एक रानी मधुमक्खी अपने छत्ते से कुछ ताजा शहद लेकर बृहस्पति देवता को अर्पित करने ओलिम्पस पर्वत पर गयी। बृहस्पति शहद पाकर बहुत प्रसन्न हुए और उससे कोई भी वरदान माँग लेने को कहा। मधुमक्खी बोली, "महाराज, मुझे एक ऐसा डंक दीजिए, जिससे यदि कोई जीव मेरा मधु लेने आये, तो मैं उसे मार सकूँ।" बृहस्पति इस पर बड़े अप्रसन्न हुए, क्योंकि उन्हें मनुष्य जाति से अत्यन्त प्रेम था, परन्तु वे अपने वचन से मुकर भी नहीं सकते थे। अत: उन्होंने मधुमक्खी से कहा, "ठीक है, तुम्हारी इच्छा पूरी तो होगी, परन्तु यह तुम्हारे लिए भी दु:ख ही लायेगा। क्योंकि यदि तुम अपने डंक का उपयोग करोगी, तो वह डंक तुम्हारे बनाये हुए घाव में ही रह जायेगा और उसके अभाव में तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी।"

दूसरों के लिए दुर्भावना अपने ही सिर पर लौट आती है।

ग्वालिन और दूध का मटका

एक किसान की पुत्री खेत से दूध का घड़ा लेकर घर पहुँचाने जा रही थी। रास्ते में वह सोचने लगी, "इस दूध को बेचने से कम-से-कम तीन सौ अण्डे आयेंगे। उन अण्डों से कम-से-कम ढाई सौ चूजे तो निकलेंगे ही। साल के अन्त तक ये चूजे बड़े होकर काफी कीमती हो जायेंगे। अत: साल के अन्त तक नये कपड़े खरीदने को मेरे हिस्से के काफी पैसे हो जायेंगे। उस पोशाक को पहनकर मैं विभिन्न समारोहों में जाऊँगी, जहाँ बहुत-से नौजवान मेरे पास विवाह का प्रस्ताव लेकर आयेंगे। परन्तु मैं अपना सिर हिलाकर उन सभी को मना कर दूँगी। उसी क्षण उसने अपने मनोभावों के अनुरूप सिर हिलाया, जिसके फलस्वरूप घड़ा धरती पर गिरकर चकनाचूर हो गया और दूध के साथ-ही-साथ उसकी सारी कल्पनाएँ मिट्टी में मिल गयीं।

समुद्र-तट के यात्री

समुद्र के किनारे किनारे यात्रा करते चलते हुए कुछ यात्री एक ऊँची पहाड़ी की चोटी पर चढ़ गये और समुद्र का निरीक्षण करते हुए उन्होंने दूरी पर एक विशाल जलयान-सा देखा। वे लोग उसके बन्दरगाह में घुसने की आशा लगाये उसी ओर टकटकी लगाये देखते रहे। परन्तु ज्यों ज्यों हवा के दबाव से वह वस्तु तट के निकट आने लगी, उन्हें लगा कि यह एक जहाज नहीं, बल्कि एक छोटी-सी नौका हो सकती है। आखिरकार जब वह चीज किनारे आ लगी, तो उन लोगों ने पाया कि वह लकड़ियों का एक बड़ा गट्ठा मात्र है। यात्रियों में से एक ने अपने मित्रों से कहा, "हम लोग यहाँ व्यर्थ ही प्रतीक्षा करते रहे, क्योंकि अन्त में देखने को हमें लकड़ी का एक गट्ठा मात्र ही मिला।"

जीवन में हमारी आशाएँ सच्चाई से काफी दूर होती हैं।

एक ठठेरा और उसका कुत्ता

एक ठठेरे के पास एक छोटा-सा कुत्ता था, जो उसे अत्यन्त प्रिय था। वह जहाँ कभी भी जाता, कुत्ता भी सर्वदा उसके साथ ही रहता। जब वह धातु को पीटते हुए बर्तनों के निर्माण में व्यस्त रहता, तो कुत्ता लेटा रहता; परन्तु जब वह काम समाप्त करके भोजन के लिये जाता, तो कुत्ता भी उठकर अपनी पूँछ हिलाने लगता, मानो वह अपना हिस्सा माँग रहा हो। एक दिन उसके मालिक ने इस पर नाराजगी का अभिनय करके उसके सामने अपनी छड़ी लहराते हुए कहा, "अरे दुष्ट, मैं तेरे लिए क्या करूँ? जब मैं निहाई पर हथौड़ा चला रहा था, तब तो तू चटाई पर लेटा मजे में ऊँघ रहा था और अब मेहनत करने के बाद जब मैं भोजन करने बैठा हूँ, तो उठकर अपनी पूँछ हिलाते हुए खाना माँग रहा है। क्या तू नहीं जानता कि परिश्रम ही हर सौभाग्य का मूल है और केवल मेहनत करनेवाले ही भोजन के अधिकारी हैं?"

ओक का वृक्ष और बाँस की झाड़ियाँ

एक बहुत बड़ा ओक का वृक्ष आँधी के कारण उखड़कर एक झरने के ऊपर गिर पड़ा था। वह अपने आसपास की बाँस की झाड़ियों को सम्बोधित करके बोला, "इस बात पर मुझे बड़ा ही आश्चर्य होता है कि तुम लोग इतने हल्के तथा दुर्बल होकर भी इन तेज हवाओं से पूरी तरह कैसे बच गये।" झाड़ियों ने उत्तर दिया, "तुम हवा से लड़ते तथा उसका प्रतिरोध करते हो और इसके फलस्वरूप तुम उखड़ जाते हो, जबकि हम इसके उल्टे थोड़ी-सी भी हवा में झुक जाती हैं और इस कारण टूटन तथा बरबादी से बच जाती हैं।

जीतने के लिए झुकना भी एक प्रभावी उपाय है।

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (५)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(पिछले अंक में देखा कि कैसे स्वामीजी १८९२ ई. के मई के पूर्वार्ध में महाबलेश्वर से ठाकोर यशवन्तसिंहजी के साथ पूना आकर निवास करने लगे। वहाँ के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री महादेव शिवराम गोले की शंका का समाधान करते हुए स्वामीजी ने पाश्चात्य सुधारवाद तथा ईसाई धर्म के मूल तत्त्वों का जो विवेचन किया था उसका किंचित् अंश हम पिछले अंक में दे आये हैं, बाकी अंश निम्नलिखित है।)

पाश्चात्य सुधारवाद के तत्त्व

"पिछले दो-तीन सौ वर्षों से ईसाई लोगों को सामान्यत: मूल बाइबिल समझ में आने लगी है। परन्तु इस दौरान बुद्धिमान् लोगों का ध्यान मुख्यत: सुधारवाद की ओर लगा रहने के कारण उन्हें धर्मविचार करने का यथेष्ट अवसर नहीं मिला। तथापि बुद्धि का प्रवाह जब क्रमश: मानवीय-नीति सम्बन्धी विचारों की ओर बहने लगा, तब एक ऐसा मत निकला कि धर्म के द्वारा नहीं, अपितु सुख-दुख के विवेक से ही मनुष्य में नीति की प्रेरणा आती है और यह मत बहुत-से लोगों में मान्य होने लगा। ऐसा एक बुद्धिप्रणीत मत स्थिर हुआ कि व्यक्ति को अपने नीजी आचरण में नीतिमान होने के लिए स्वसुख का उत्कृष्ट मार्ग अपनाना चाहिए और उसी प्रकार सामाजिक आचरण में नीतिमान होने के लिए समाजसुख का मार्ग अंगीकार करना चाहिए। उसी समय कायदे-कानून में भी इसी सिद्धान्त का समावेश हुआ। समाज की उत्कृष्ट व्यवस्था में रहकर व्यक्ति को अधिकाधिक सुख कैसे प्राप्त हो, इस बात को ध्यान में रखकर नियम बनाये जाने लगे। कानून के अन्तर्गत न आनेवाले लौकिक आचरणों पर भी यही सिद्धान्त लागू होने से पुरानी रूढ़ियाँ बदलती रहीं। कुल मिलाकर सामाजिक तथा लौकिक आचरण में धर्म को पीछे छोड़ता हुआ यह उपयोगितावाद (Utilitarianism) का सिद्धान्त अग्रसर होता गया।

यूरोप में पिछली शताब्दी के दौरान विद्या अर्जितकर उसी से आजीविका चलानेवाले लोग मध्यवर्ग के थे। सभी विषयों में बुद्धि लगाने का कार्य उन्हीं के जिम्मे था। वे लोग निम्नवर्ग के कष्ट देख रहे थे और इतना ही नहीं बल्कि शायद उन्हें भी वैसे ही कष्ट सहने पड़ते थे, इस कारण उच्चवर्ग का ऐश्वर्य तथा उन्माद उनसे सहन नहीं हुआ। समाज का ऐसा वर्गीकरण उन्हे अत्यन्त अन्यायपूर्ण प्रतीत होने लगा। जन्म से सभी मनुष्यों को समान समझकर वे निम्नवर्ग को भी यही उपदेश देने लगे। वे लोग कष्ट झेल रहे थे, अत: यह उपदेश उन्हें तुरन्त जँच गया।

"यदि सभी मनुष्य एक समान हों, तो उन्हें एक समान स्वाधीनता भी मिलनी चाहिए। एक वर्ग का दूसरे पर तथा राजा का प्रजा पर शासन चलाना उन्हें अन्याय प्रतीत होने लगा। समाज के बन्दोबस्त के लिए यदि राज-व्यवस्था की जरूरत हो, तो उसे प्रजा की सलाह तथा पसन्द से ही उत्पन्न होना चाहिए। समाज सबको मिलाकर बनता है, अत: उसके उत्कर्ष हेतु सबको समान रूप से मन लगाकर कार्य करना चाहिए। तात्पर्य यह कि परिवार में भाई भाई के बीच जो सम्बन्ध है, वही समाज में समान अधिकार के लोगों के बीच होना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि के विकास से निम्नवर्ग के लोगों को जो नई बात समझ में आई वह यह थी कि समस्त प्रजाजन को एक समान अधिकार है, उन्हें एक समान स्वाधीनता मिलनी चाहिए, राज-व्यवस्था प्रजासत्तात्मक होनी चाहिए और इसके लिए राजा-सरदार आदि विशेष अधिकार प्राप्त लोगों को या तो समाप्त कर देना चाहिए या फिर उनके अधिकारों में कटौती कर देनी चाहिए।

"इन्ही विचारों के फलस्वरूप फ्रांस की सुप्रसिद्ध राज्यक्रान्ति हुई और प्रजा की महत्ता स्थापित हुई। अन्य देशों में यद्यपि राज्य-क्रान्तियाँ नहीं हुईं, तथापि प्रजा के असन्तोष के भय से उसे ज्यादा अधिकार देने की शुरुआत हुई। 'समता तथा बन्धुत्व' – ये शब्द मध्यम और निम्नवर्ग में लोकप्रिय हो गये। सबको समान अधिकार देने के पूर्व सबमें समान योग्यता आनी चाहिए, इस विचार से सबको विद्यादान आरम्भ हुआ और आखिरकार निम्नवर्ग को केवल उद्यम के कार्यों में ही समान अधिकार मिला, परन्तु पहले से संचित सम्पत्ति में उन्हें हिस्सा नहीं मिला। प्रतियोगिता के द्वारा जो भी चाहिए, उसे करने के उद्योग-स्वतंत्र्य के फलस्वरूप पूँजीपति एवं श्रमिक नाम के नये वर्ग बने। व्यापार के फलस्वरूप इन वर्गों के बीच अन्तर बढ़ता गया। शास्त्र, यन्त्र, कला आदि सभी क्षेत्रों में श्रम एक का और लाभ दूसरे को, ऐसा परिणाम होने लगा और यन्त्रों के प्रसार से श्रम करनेवाले यन्त्र भी बनने लगे, इसमें प्रतिस्पर्धा के कारण अपने मनुष्यों को सुधारने का समय ही नहीं मिलता था। केवल मुख से ही 'स्वतंत्रता, समता एवं बन्धुत्व' का जयघोष यत्र-तत्र चलता रहा। अर्थशास्त्री भी ऐसे ही मत का प्रतिपादन करने लगे कि यही अवस्था उचित है। उद्योग एवं व्यापार से सम्पत्ति में निरन्तर वृद्धि होती रही। तब सुधारवाद की दृष्टि से यह नवीन स्थिति उत्तम मानी गयी।

"इधर विज्ञान के उत्कर्ष से विकासवाद नाम का एक नया तत्त्व प्रकट हुआ। और वह यह था कि सर्वत्र जीवन के लिए संघर्ष चल रहा है तथा जो जीवन के लिए योग्यतम है केवल वही जीवित रहेगा। बाकी सबका अपने आप ही संहार हो जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार यह तत्त्व विभिन्न राष्ट्रों के

बीच, समाज के वर्गों के बीच, वर्ग के परिवारों के बीच और यहाँ तक कि व्यक्तियों के बीच भी लागू होता है। पूर्वकाल के नीति, धर्म तथा कुछ हद तक सुराज्य-व्यवस्था के फलस्वरूप 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय पीछे छूट गया था, परन्तु विकासवाद के इस सिद्धान्त ने उसे नया ही महत्व प्रदान किया। 'स्वतंत्रता, समता एवं बन्धुत्व' के साथ विकासवाद के तत्त्व का ठीक मेल नहीं बैठता था। अब आत्म-संरक्षण के निमित्त स्वार्थ पर अधिक बल दिया जाने लगा, परमार्थ एवं परोपकार पिछड़ गये और समाज में प्रतिस्पर्धा का घातक स्वरूप स्पष्ट होने लगा। अब सुधारवाद की इस बात पर दृष्टि टिक गयी कि जीवनार्थ संघर्ष में स्थिरता बनाये रखकर किस प्रकार स्व-संरक्षण के लिए व्यक्ति एवं राष्ट्र को योग्यतम बनाया जाय। ऐसा होने का एक और भी कारण था।

"प्रत्येक राष्ट्र में लोगों की संख्या बढ़ रही है और कुछ सुधरे हुए राष्ट्रों में तो वह काफी वेग से बढ़ रही है। इस बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण लोगों को देशान्तर गमन करना पड़ता है। इस देशान्तर के फलस्वरूप पृथ्वी के निवासयोग्य अधिकांश स्थान भर गये हैं, तथापि जनसंख्या बढ़ती जा रही है। सभी पुराने राष्ट्रों में निवासियो की भीड़ हो जाने से अन्न के अभाव का प्रसंग उत्पन्न हुआ है। भिन्न भिन्न राष्ट्रों के बीच अन्न के लिए प्रतिस्पर्धा जारी है और इस स्पर्धा का दायरा प्रत्येक राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति तक जा पहुँचा है। एकमात्र उद्योग ही अन्न की प्राप्ति का मार्ग है। इस उद्योग के द्वारा अन्नप्राप्ति के लिए भी अपने अपने व्यापार को धक्के से बचाने के हेतु सभी राष्ट्रों को अच्छा सैन्यबल तैयार रखना पड़ता है। अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने हेतु नये स्थानों पर कब्जा करने के लिए भी सैन्यबल जरूरी है। इस कारण सभी यूरोपीय राष्ट्र अधिकाधिक सैन्यबल रखकर सदैव लड़ाई की तैयारी में लगे हैं। दूसरों का व्यापार तथा दूसरों के कब्जे में गया हुआ मुल्क प्रत्येक राष्ट्र की आँखों में खटकता है। सैन्यबल रखने में जो भयानक खर्च होता है, उसका भार उद्योगकर्ताओं पर पड़ने से उनकी और भी दुर्दशा हो रही है, परन्तु उपाय भी क्या है? बढ़ती हुई जनसंख्या, जीवन के लिए संघर्ष और ऐश्वर्य का लोभ – इनके चलते यूरोप के सुधरे हुए राष्ट्र कब कौन-से अन्यायपूर्ण कार्य में लग जाएँगे, कहा नहीं जा सकता। धर्म एवं विवेक को यथाशीघ्र इन राष्ट्रों से पलायन कर जाना चाहिए।

"विकासवादियों ने विवेक का रूपान्तरण करने का भी प्रयास चला रखा है। उनका कहना है कि मन में भी सदाचार निभाने की जो सहज बुद्धि है, जिसके कारण मन सभी विषयों में निर्णय देता है कि यह करना उचित है तथा यह अनुचित; और उचित करने पर आनन्द तथा अनुचित करने पर असन्तोष का बोध होता है – इस सहज बुद्धि या विवेक की उत्पत्ति के विशिष्ट कारण है और विकासवाद के नियमानुसार परिस्थितियों का अनुसरण करते हुए विवेक का रूपान्तरण होते जाना चाहिए। यदि मनुष्य कभी एकाकी इस जगत् में निवास करता होगा, तो उसका विवेक काफी संकुचित रहा होगा। उसका बस इतना ही कार्य रहता होगा कि उसके पहले के अनुभव से, जो आचरण मनुष्य के सुख तथा संरक्षण में सहायक है, उसमें लोगों को लगाए और जो सहायक नहीं है, उससे लोगों को परावृत करे। पर जब मनुष्यों का संघ बना और उनका आपस में स्थाई संगठन होने लगा, तब अनुभव से उन्हें बोध हुआ कि व्यक्ति तथा समुदाय के सुख व संरक्षण के लिए कौन-सा आचरण उचित है। अनेक पीढ़ियों के एक समान अनुभव के कारण यह ज्ञान सहज बुद्धि के रूप में मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त होने लगा। ज्यों ज्यों समुदाय बड़ा होने लगा और जीवनार्थ संघर्ष में विभिन्नता आने लगी, त्यों त्यों विवेक का कार्य भी बढ़ता गया। परिस्थिति व अनुभव के अनुसार उसका रूपान्तरण होता गया और अब भी हो रहा है। समाज-संरक्षण ही उसका मुख्य कार्य है और भविष्य में भी समाज में रूपान्तर होने से विवेक को भी वैसा ही होना चाहिए। इस प्रकार 'विवेक की आज्ञा' का अर्थ पूर्व के संचित अनुभवों से लगाना चाहिए; यह आज्ञा मनुष्य को माननी ही चाहिए ऐसी बात नहीं, बल्कि नवीन परिस्थिति में वह कितना उचित है, इस पर विचार करके निर्णय लेना चाहिए। यही बात धर्म पर भी लागू है। इससे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि जिसके द्वारा व्यक्ति तथा समाज का सुखवर्धन एवं संरक्षण नहीं होता, वह धर्म भी त्याज्य है और वह विवेक भी त्याज्य है। हाल के यूरोपीय सुधारवाद को यह विचार प्रबल रूप में प्रभावित कर रहा है।

"पुरानी भाषा एवं इतिहास के अध्ययन से ईसाई धर्म के परमपूज्य ग्रन्थ बाइबिल की पूज्यता समाप्त होती जा रही है। यह बात अब सर्वमान्य हो गयी है कि बाइबिल में वर्णित जगत् तथा मानव की उत्पत्ति का इतिहास गलत है। यह भी सबको काफी-कुछ मान्य हो गया है कि उसके प्राचीन व्यवस्थान की ईश्वर-विषयक कल्पना तथा उसमें वर्णित लोकस्थिति बिल्कुल बर्बरतापूर्ण है। इस बात से भी बहुत-से लोग सहमत हैं कि बाइबिल में वर्णित ईसा तथा उनके अनुयाइयों द्वारा किये हुए अलौकिक चमत्कार असम्भव हैं। जन्म अथवा कृतित्व से ईसा अमानुष या ईश्वरपुत्र थे – इस बात से भी बहुत-से लोग असहमत हैं। अब बच रहे हैं केवल ईसा के उपदेश। उनकी प्रशंसा करने की परिपाटी है और वह इस कारण कि उन उपदेशों के चिन्तन से क्षण भर के लिए मन उदात्त हो जाता है और नीतिविषयक एक अत्युत्कृष्ट प्रकार की पुरातन कल्पना मन में आकर आह्लाद प्रदान करती है। बाइबिल के धर्मतत्त्वों को विचार की चलनी से बारम्बार छानने और बारम्बार पिघलाकर विचार की कसौटी पर कसने से, जो बातें विशुद्ध प्रमाणित होती हैं, वे मात्र थोड़ी-सी है; बाइबिल में केवल उनका प्रपंच

एवं विस्तार बहुत बड़ा है।

"अब मैं उन तत्त्वों का सारांश बताता हूँ – 'सच्चे जीवन की उपलब्धि के लिए मरना पड़ता है अर्थात् प्रथमत: इहलोक के समस्त सुखों एवं बन्धनों को छोड़ देना चाहिए और स्वयं को ईश्वराधीन कर देना चाहिए। तदनन्तर ईश्वरीय प्रेरणा से सभी मनुष्यों के प्रति अपने ही समान सहानुभूति उत्पन्न होने से सच्चे जीवन की पुन: उपलब्धि होती है। ऐसे जीवन के फलस्वरूप पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य का अवतरण होता है; क्योंकि तब मनुष्य में ऐसी प्रवृत्ति आती है कि वह आजन्म जो कुछ करे, वह पूर्ण नम्रता एवं नि:स्पृहतापूर्वक केवल ईश्वराज्ञा से तथा ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही करे। यह पहला तत्त्व हुआ। दूसरा यह है कि ईश्वर तथा मनुष्य के बीच जो सम्बन्ध है उसके लिए बिल्कुल निकट की उपमा लें तो वह पिता-पुत्र के समान है। परन्तु यह भी अपूर्ण है। इस सम्बन्ध के कारण मनुष्य को निरन्तर कृतज्ञता का भाव रखना होगा, आज्ञाकारी रहना तथा उनके प्रति अत्यन्त सम्मान तथा प्रेम के भाव से रहना होगा; फिर ईश्वर भी सन्तुष्ट होकर मनुष्य को कृपा, ममता तथा क्षमा की उपलब्धि कराता है; और ऐसे ईश्वरीय प्रसाद को अन्य सभी लाभो से उत्कृष्ट मानना चाहिए। तीसरा तत्त्व यह है कि सभी मनुष्यों के प्रति अपने ही समान प्रीति रखनी चाहिए; अपने अन्त:करण में लोगों से जिस प्रकार के आचरण की अपेक्षा हो, उसी प्रकार का आचरण हमें लोगों से करना चाहिए; आत्महित तथा परहित के बीच भेद नहीं करना चाहिए।'

"उपरोक्त तत्त्वों में ईसा ने स्पष्ट रूप से प्राचीन व्यवस्थान के दस आदेशों का अनुसरण किया है। और वे ही – उनके पर्वत पर के उपदेश एक दृष्टि से अति उदात्त माने गये हैं। इन तत्त्वों, ईसा के उपदेश तथा उनका आचरण – इन पर विचार किया जाय तो ईसा की महानता ध्यान में आती है और धार्मिक स्वभाव का एक अति उत्कृष्ट उदाहरण आँखों के समक्ष उपस्थित होता है। आधुनिक ईसाइयों का कौन-सा वर्तमान आचरण ऐसे ईसा को पसन्द आयेगा? वस्तुत: ईसा ने उपरोक्त बातें इस उद्देश्य से कही हैं कि धार्मिक अथवा पारमार्थिक आचरण का पूर्णरूप से साधन करना चाहिए और केवल उसी के साधनार्थ ऐहिक कर्म करना चाहिए; अत: उसके द्वारा सुधारवाद अथवा जागतिक ऐश्वर्य प्राप्त होना असम्भव है। ईसा की शिक्षाएँ व्यावहारिक आचरण में लाना बिल्कुल असम्भव है और इस कारण उन्हें किनारे रखकर उसके पूर्णत: विपरीत परिणाम ईसाई इतिहास में घटित हुए दीख पड़ते हैं।

"कहाँ ईसाप्रणीत धर्म और कहाँ विकासवादी सुधारयुक्त ईसाई लोगों का वर्तमान आचरण! जीवन के लिए संघर्ष होगा और उसका फल योग्यता के अनुसार निकलेगा! इस योग्यता को स्थापित करने के लिए डण्डे का जोर चाहिए, बड़ा सैन्यबल चाहिए तथा उत्कृष्ट प्राणघातक हथियार चाहिए। ईसाई लोग असभ्य लोगों की बस्ती में पहुँच जाते हैं और उन लोगों ने विरोध किया तो, 'जीवन के लिए संघर्ष होने दो' – कहकर वे तुरन्त अपने अस्त्र-शस्त्र बाहर निकाल लेते हैं। इस प्रकार दूसरे राष्ट्रों की सत्ता हथिया लेने के बाद उनके आचरण का यही तत्त्व है – 'तुम अधिकार माँगते हो? तो योग्यता दिखाओ। तुम न्याय माँगते हो? तो योग्यता दिखाओ। तुम्हें अत्याचार नहीं चाहिए? तो योग्यता दिखाओ।' योग्यता के प्रश्न का हल कभी बातचीत से नहीं निकलता। जीवन के संघर्ष में किसी एक को शीघ्र या धीरे धीरे मृत्यु के मार्ग पर जाना होगा। ईसाई लोग जब तक इस योग्यता के सिद्धान्त को हठपूर्वक सब पर थोपते रहेंगे और उससे तिल भर भी नहीं डिगेंगे, तब तक उन्हें कदापि ईसा का अनुयायी नहीं कहा जा सकता।

"इस तरह धर्म का नाश देखकर थोड़े से उच्च हृदयवाले ईसाई लोग अत्यन्त विषाद प्रकट करते हैं। काउण्ट टॉलस्टाय नामक एक रूसी सज्जन की एक पुस्तक है – 'तो फिर हम क्या करें?' (What to do then?), जिसे पढ़ने से एक धार्मिक ईसाई व्यक्ति की मन:स्थिति ध्यान में आती है। परन्तु इधर सुधारवादी लोग विचार कर रहे हैं, 'क्यों जी, यह धर्म कब समाप्त होगा? यह समाप्त हो जायेगा या फिर किसी अन्य रूप में विद्यमान रहेगा? समाज को इससे कुछ लाभ होनेवाला हैं क्या? ऐसी बात है तो रहने दो इसे कोने में पड़ा हुआ!'

"ईसाई धर्म के जो थोड़े-से उदात्त तत्त्व मैंने बताए, वे हिन्दू धर्म के तत्त्वों के ही समान हैं। सभी धर्मों के मूल तत्त्व समान ही हुआ करते हैं; परन्तु तुम देखोगे कि हिन्दू धर्म के तत्त्व न केवल चिन्तनोपयोगी हैं, अपितु अधिक व्यवहारोपयोगी भी हैं। एक ओर तो वे व्यवहारोपयोगी हैं और दूसरी तरफ हिन्दुओं का स्वभाव ही धार्मिक है, इस कारण हम लोगों पर धर्मतत्त्व का अधिक प्रभाव हुआ है और वह हमारी मनोवृत्ति के साथ बहुत-कुछ एकरूप हो गया है। उन तत्त्वों को सुनकर ही तुम्हें यह बात समझ में आयेगी।"

❖ (क्रमश:) ❖

(पाश्चात्य सुधारवाद तथा ईसाई धर्म के मूलतत्त्वों के विश्लेषण के उपरान्त अगले अंकों में हम स्वामीजी की श्री गोले के साथ चर्चा के दौरान बताये हुए 'हिन्दू धर्म के पंच महातत्त्वों' का विवरण देंगे।)

आत्मनिरीक्षण

स्वामी सत्यरूपानन्द

जीवन एक यात्रा है, जिसका प्रारम्भ यद्यपि जन्म से होता है, तथापि उसकी समाप्ति मृत्यु पर नहीं होती। मृत्यु तो एक पड़ाव है, एक विश्राम-स्थल है, जहाँ से जीवन-यात्रा कर्मों के अनुसार उतार-चढ़ावों से होती हुई पुनः आगे बढ़ती है। जीवन-यात्रा की समाप्ति होती है अमरत्व में पहुँच कर, इसी देह में देह की मृत्यु के पूर्व अमरता का अनुभव कर। वेदान्त की भाषा में इसे जीवन-मुक्ति कहते हैं।

अमृतस्य पुत्राः। हम अमृत के पुत्र हैं। अमृत की सन्तान हैं। अतः अमृतत्व हमारा स्वरूप है। अमरता प्राप्त करना, उसकी अनुभूति करना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

इस अमरता को हमें कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना है। यह तो हमारे भीतर ही विद्यमान है। हमें उसे अपने भीतर ही ढूँढ़ना क्या है, उसे पा लेना है।

इसके लिए हमें अपने आप में, अपने भीतर देखना होगा। हम बाहर की दुनिया से तो बहुत परिचित हैं। बाहर के बहुत-से रास्तों और क्षेत्रों को हम जानते हैं। किन्तु अपने भीतर की दुनिया से प्रायः अपरिचित ही हैं। हम अपने भीतर के रास्तों को नहीं जानते, भीतर के क्षेत्रों को नहीं जानते।

संसार के सभी देशों और सभी धर्मों के महापुरुष, सन्त, महात्मा, अवतार हमें यह बताते हैं कि हमारे भीतर स्वर्गीय आनन्द और दिव्य विभूतियों का रामराज्य है। हम अनन्त ज्ञान और असीम आनन्द के अधिकारी हैं। हमारे भीतर कुबेर का कोष और बृहस्पति का ज्ञान विद्यमान है।

इस कोष की चाबी हमारे हाथ में है। वह चाबी क्या है? वह चाबी है आत्मनिरीक्षण। आत्मपरीक्षण।

हमें अपने भीतर देखना होगा। स्वयं से परिचय प्राप्त करना होगा। अपने गुण-दोषों को जानना होगा। यह देखना होगा कि हमारे कर्मों के पीछे की प्रेरक शक्ति क्या है? कौन हमारे जीवन का संचालन कर रहा है? हमारे कर्मों का उद्देश्य क्या है? दूसरे शब्दों में हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है? इन सब बातों का ज्ञान हमें स्वयं से परिचित करायेगा। हम अपने विषय में जितना अधिक जान पायेंगे, उतना ही अधिक हमें हमारी छिपी हुई शक्तियों का ज्ञान होता जायेगा। यह ज्ञान हमें अपने भीतर के दिव्य संसार से परिचित कराता जायेगा। हमें अपने व्यक्तित्व के नये नये आयामों के दर्शन करायेगा। अपने व्यक्तित्व के दिव्य नवीन आयामों से परिचित होने पर हमारा जीवन के अभाव, हमारी हीनता, हमारी दरिद्रता सभी दूर होते जायेंगे। भीतर की यह समृद्धि हमें असीम आनन्द और पूर्णता का बोध करायेगी। यह पूर्णता का बोध ही परिपक्व होकर एक दिन हमें अमरता में प्रतिष्ठित कर देगा। हम इसी जीवन में मृत्यु को जीतकर मृत्युजय हो जायेंगे, अमर हो जायेंगे, जीवन्मुक्त हो जायेंगे। यही तो मानव-जीवन का प्रयोजन है। यही तो मनुष्य जीवन की चरम सफलता है।

किन्तु इस सफलता की प्राप्ति के लिए हमें परिश्रम करना होगा, उपलब्धि के लिए मूल्य देना होगा। यह मूल्य क्या है?

निष्ठापूर्वक आत्म-निरीक्षण और आत्म-परीक्षण का अभ्यास। चाहे जिस प्रकार भी क्यों न हो, समय निकालकर प्रतिदिन बिना नागा आत्म-निरीक्षण का अभ्यास करना होगा। अटूट आत्म-विश्वासपूर्वक अखंड अनत अध्यवसाय - यही रहस्य है सफलता का, यही मूल्य है जीवन में चरम उपलब्धि प्राप्त करने का।

नान्यः पन्थाः विद्यते - इस चरम उपलब्धि का और कोई दूसरा रास्ता नहीं है, यह हमें सदैव स्मरण रखना होगा। ❑

आचार्य रामानुज (१७)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेन्नई की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

१३. यादव प्रकाश द्वारा शिष्यत्व-ग्रहण

सामान्य छलनामय उपाय के द्वारा अपनी पत्नी के हाथ से छुटकारा पाकर रामानुज ने संन्यास ग्रहण किया। कुछ लोग सोच सकते हैं कि यह उनके लिए धर्मसंगत नहीं हुआ। पर –

आपदर्थं धनं रक्षेत् दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि।।[1]

– अर्थात् विपत्ति से बचने के लिए धन रखना चाहिए, धन को छोड़कर भी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए और धन तथा पत्नी को भी छोड़कर सर्वदा आत्मरक्षा करनी चाहिए।

इस चिरन्तन नीति के अनुसार उन्होंने आत्मरक्षा के लिए पत्नी का परित्याग किया था। आप कह सकते हैं कि इस प्रकार झूठी बातों से पत्नी को बहकाकर उनका संन्यास लेना उचित नहीं हुआ। नीति-विशारदों का मत है कि झूठ बोलना सर्वदा दोषपूर्ण नहीं होता। मूर्ख को यह समझाना व्यर्थ है कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी घूम रही है। अत: वे कहते हैं –

मूर्खं छन्दानुवृत्तेन याथातथ्येन पण्डितम्।[2]

– मूर्ख की हाँ में हाँ मिलाकर और विद्वान् को सत्य बताकर अपने वश मे लाना चाहिए।

चैतन्यदेव ने अपने गृहत्याग की बात अपनी माँ शचीदेवी को तो सूचित कर दिया था, पर पत्नी विष्णुप्रिया को नहीं। शाक्यसिंह बुद्ध ने अपनी प्रेममयी पत्नी को अपना मनोभाव बिल्कुल भी नहीं जानने दिया और चोर की भाँति घर से प्रस्थान किया था। यद्यपि विष्णुप्रिया तथा गोपा (यशोधरा) दोना ही पतिभक्ति की आदर्श स्वरूप थीं, पति के सुख मे ही वे अपने को सुखी मानती थीं, तथापि उन्होंने लोकहितार्थ अवतीर्ण सार्वजनिक वस्तु रूपी महापुरुषों को केवल अपना ही बनाकर रखना चाहा था, अत: वे स्वार्थ रूपी मोह से आच्छन्न हो गयी थी। उन मोहबद्ध लोगों को यथार्थ बात बताना नीतिविरुद्ध था। और जमाम्बा वैसी पतिपरायणा भी न थीं, उन्होंने तीन बार पति की आज्ञा का उल्लंघन किया था। अत: यदि रामानुज उन्हें अपने मन का भाव बता देते, तो फिर एक भयानक दृश्य उपस्थित हो जाता। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य आत्मसुख और गौण उद्देश्य पतिसुख था, ऐसी स्वार्थपरायण देहात्म-अभिमानिनी नारी की केवल यही इच्छा रहती है कि पतिदेव हरिसेवा को छोड़कर निरन्तर उसी की सेवा में निरत रहें। ऐसी परिस्थिति में हरिसेवा का प्रसंग तक उठाना व्यर्थ है। रामानुज ने जमाम्बा के हृदय में हरिभक्ति का बीज रोपित करने का विशेष प्रयास किया था, पर उस स्वार्थरूपी बालुकामय ऊसर भूमि में उसके अंकुरण की कोई सम्भावना न देखकर वे उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में थे। वे भलीभाँति जानते थे कि स्वार्थ-बालुका को सिंचित करने का एकमात्र उपाय अश्रुजल ही है, उनके गृहत्याग का यही कारण था। इससे एक ओर जहाँ उनका हरिसेवा को उत्सुक मन निरन्तर उनके ध्यान में निमग्न रहकर स्वयं को धन्य मानेगा, वहीं दूसरी ओर जमाम्बा के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित करवाकर उनके हृदय की ऊसरता का नाश करेगा। अत: जमाम्बा को छलकर श्री रामानुज का संन्यास लेना अनुचित नहीं हुआ।

प्रश्न उठता है कि उन्होंने किस सम्प्रदाय का आश्रय लेकर चतुर्थाश्रम ग्रहण किया था? उत्तर में कहना होगा कि उन्होंने अद्वैत सम्प्रदाय का आश्रय नहीं लिया यह तो स्पष्ट है, क्योंकि बचपन से ही उन्हाने अपने आचार्य यादवप्रकाश के साथ उक्त मत को लेकर वाद-विवाद किया था। उन्होंने शांकर सम्प्रदाय के तत्कालीन किसी भी संन्यासी का गुरु रूप में वरण नही किया। साक्षात् वरदराज ही उनके गुरु हुए थे और भगवान के प्रति अनन्य तथा अहैतुकी भक्ति ही उनके संन्यास का कारण थी। वे निरन्तर एकाग्र चित्त से श्रीहरि के ध्यान में लगे रहना ही पसन्द करते थे और इसी कारण उनके लिए सांसारिक विषयों में मन लगाना दुरूह हो उठा था। अतएव ऐसे महानुभावों के लिए संसार-त्याग ही स्वाभाविक धर्म है। भक्तिरस में डूबकर वे अन्य सभी रसों को भूल गये थे, अत: उन्हे भक्तिमार्गी संन्यासी ही कहना होगा।

संन्यास-ग्रहण के कुछ काल बाद ही आबाल-वृद्ध-वनिता – सभी इस समाचार को सुनकर विस्मित हुए। उनकी पत्नी युवती तथा परम रूप-लावण्य-सम्पन्न थी और वे स्वयं भी युवक तथा अतीव रूपवान थे। अत: ऐसी अवस्था में भोग-परायण लोग संसार-सुख को त्याग करना असम्भव मानें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या! इस कारण बहुत-से लोगों ने समझा कि उनका सिर फिर गया है और कुछ लोग उनकी अवतारी पुरुषों से तुलना करने लगे। चारों ओर से कितने ही लोग उनका

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, ३७/१८
२. हितोपदेश, ४/१०६ का उत्तरार्ध

दर्शन करने को आने लगे। वहाँ के मठवासियों ने उन्हें अपना अध्यक्ष बना लिया। उनकी गुणवत्ता एवं विद्वत्ता से कोई भी अपरिचित न था। अत: दो-चार शिष्य भी उनके चरणों में जुटने लगे। दाशरथि नामक उनके एक भानजे ने सर्वप्रथम उनसे संन्यास ग्रहण किया। वे भी वेद-वेदान्त तथा हरिभक्ति-परायण थे। इसके बाद हारित गोत्र में उत्पन्न कुरनाथ या कुरेश नामक एक महानुभाव युवक ने उनके द्वितीय शिष्य का स्थान ग्रहण किया। इनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी; वे जो भी एक बार सुन लेते, उसे कभी भूलते न थे। इन दो शिष्यों के साथ बैठे ऊर्ध्वपुण्ड्रधारी श्री रामानुज जब आगन्तुकों के साथ शास्त्रचर्चा करते, तो उस समय उनकी एक अपूर्व शोभा दीख पड़ती।

एक बार यादवप्रकाश की वृद्धा जननी ने श्री वरदराज का दर्शन करने आकर मठ में सशिष्य रामानुज से भी भेंट किया और उनके रूप तथा पाण्डित्य पर मुग्ध होकर मन-ही-मन सोचने लगी कि यदि उनका पुत्र इन्हीं महापुरुष का शिष्यत्व ग्रहण कर ले, तो उसे निश्चय ही परम शान्ति की प्राप्ति होगी। रामानुज के साथ पशुवत् आचरण करने के बाद से ही यादवप्रकाश के मन को शान्ति नहीं मिल सकी थी। यह उनकी माता को ज्ञात था। इन नवीन संन्यासी के देवतुल्य विग्रह का अवलोकन कर वृद्धा ने उन्हें वरदराज की द्वितीय मूर्ति माना और मन-ही-मन निश्चय किया कि यदि वे यादवप्रकाश को इन महापुरुष के चरणों में ला सकीं, तो इससे उनका परम मंगल होगा। घर लौटकर पुत्र के समक्ष उन्होंने अपना मनोभाव व्यक्त किया और वैसा ही करने का विशेष रूप से अनुरोध किया। अपने ही शिष्य का शिष्यत्व स्वीकार करना होगा – यह सोचकर यादव ने मातृ-आदेश का पालन करने में अनिच्छा दिखायी, परन्तु उनके मन ने इस गलत निर्णय का समर्थन नहीं किया। अन्यमनस्क भाव से इधर-उधर टहलते समय मार्ग में सहसा उनकी कांचिपूर्ण के साथ भेंट हो गयी और उनके प्रति विशेष भक्ति होने के कारण उन्होंने पूछा, "महाशय, मेरे मन में एक तरह की अशान्ति की हवा उठी है। उसका उपशम कैसे हो, यह अनुग्रह करके बता दीजिए। आप श्री वरदराज के मुखस्वरूप हैं, अत: सर्वज्ञ हैं।" इस पर कांचिपूर्ण ने कहा, "आज आप घर लौट जाइए। कल प्रभु से सब कुछ जानकर आपको बता दूँगा।"

अगले दिन कांचिपूर्ण से रामानुज की असाधारण महत्ता की बात जानकर तथा यह सुनकर कि उनका शिष्यत्व ग्रहण करने से ही अपना परम मंगल होगा, यादवप्रकाश ने मठ में जाकर रामानुज का दर्शन करने तथा उनके साथ शास्त्रचर्चा करने का संकल्प किया। उन्होंने सोचा कि मूर्ख के समान एकबारगी किसी बात पर विश्वास कर लेना उचित नहीं है। पिछली रात भी स्वप्न में उन्हें किसी व्यक्ति से रामानुज का शिष्य बन जाने का आदेश मिला था। फिर आज कांचिपूर्ण के मुख से भी वही बात सुनने को मिली। परन्तु वे स्वप्न अथवा बातों से भ्रमित होनेवाले व्यक्ति न थे। अत: भोजनोपरान्त वे मठ में गये। सचमुच ही रामानुज में अमानवीय ज्योति देखकर वे मुग्ध हो गये। तथापि जिसे कोई शिष्य रूप में देखता आया हो, उसे सहसा ही आसानी से कोई गुरु के आसन पर कैसे बैठा सकता है?

यादवप्रकाश को आये देखकर श्री रामानुज ने विशेष स्वागत करते हुए उन्हें आसन प्रदान किया। इस आदर भाव में उनका निश्छल प्रेम झलक रहा था। विविध बातों के पश्चात् यादव ने प्रश्न किया, "वत्स, मैं तुम्हारी विद्वत्ता तथा विनय देखकर परम आनन्दित हुआ हूँ। देखता हूँ कि तुमने ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा दोनों भुजाओं पर पद्म एवं चक्र धारण कर रखा है और तुम्हें सगुण ब्रह्मोपासना ही समीचीन लगती है। ठीक है, परन्तु क्या तुम इसका शास्त्रीय प्रमाण दिखा सकते हो?"

इस पर श्री रामानुज ने कहा, "ये कुरनाथ अत्यन्त मेधावी हैं। इन्हें सारे शास्त्र कण्ठस्थ हैं। आप इनसे पूछिए। ये आपको सहज ही भूरि भूरि शास्त्रप्रमाण दे सकेंगे।" यादव ने कुरदेव की ओर दृष्टि फेरी। इस पर वे कहने लगे, "महाशय, सामवेद का प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान ने बताया है – **वेदानां सामवेदोऽस्मि**। अतएव सर्वप्रथम मैं आपको सामवेद का ही प्रमाण देता हूँ –

प्र ते विष्णोरब्ज चक्रे पवित्रे जन्माम्भोधिं
तर्त्तवे चर्षणीन्द्राः। मूले बाह्वोर्दधतेऽन्ये
पुराणलिंगान्यंगे तावकान्यर्पयन्ति ।।[३]

– वे नरश्रेष्ठगण भवसागर से पार होने के लिए बाहुमूल में विष्णु का पवित्र पद्म एवं चक्र चिह्न धारण करते हैं। कोई कोई उन प्राचीन चिह्नों को शरीर पर धारण करते हैं।

पवित्रमित्यग्निः। अग्निर्वै सहस्रारः। सहस्रारो नेमिः।
नेमिना तप्ततनुर्ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतामाप्नोति ।।[४]

– अग्नि परम पवित्र हैं। वे सहस्रदल पद्म के समान शोभावान हैं। पद्म चक्राकार यंत्र के तुल्य है। अत: उक्त अग्निदग्ध लाल यंत्र के द्वारा जिनका शरीर उत्तप्त हुआ है, वे ब्रह्मसायुज्य प्राप्तकर ब्रह्मलोक म निवास करने के अधिकारी होते हैं।

एभिर्वयमुरुक्रमस्य चिह्नैः रक्षिता लोके सुभगा भवामः।
तद्विष्णोः परमं पदं येऽधिगच्छन्ति लाञ्छिताः ।।[५]

– अत: जो लोग चक्रांकित होकर विष्णुलोक जाते हैं, हम लोग भी उन्हीं के समान इस समस्त विष्णुचिह्नों द्वारा रक्षित होकर इहलोक तथा परलोक में सौभाग्य लाभ करेंगे।

उपवीतादिवद्धार्याः शंखचक्रादयस्तथा।
ब्राह्मणस्य विशेषेण वैष्णवस्य विशेषतः ।।[६]

---

३. वेदान्तदेशिक के 'सच्चरित्र-रक्षा' ग्रन्थ में ऋग्-बाश्कल-शाखा मे उद्धृत
४. उसी में सामवेद से उद्धृत ५. उसी मे अथर्ववेद से उद्धृत
६. ब्रह्माण्ड संहिता के वायव्य उपपुराण अंश से उपरोक्त ग्रन्थ में उद्धृत

– ब्राह्मण और विशेषकर वैष्णव लोग उपवीत के समान ही शंख-चक्रादि चिह्न धारण करेंगे ।

हरेः पदाकृतिं आत्मनो हिताय
मध्येच्छिद्रमूर्ध्वपुण्ड्रम् ।
यो धारयति स परस्य प्रियो भवति,
स पुण्यवान् भवति, स मुक्तिमान् भवति ।।[७]

– अर्थात् जो व्यक्ति आत्महित के लिए बीच में छिद्र युक्त हरिपदाकार ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं, वे परमात्मा के प्रिय, पुण्यवान तथा मुक्तिमान होते हैं।

"हे विद्वानप्रवर, अब मैं श्रुति से ब्रह्म के सगुण होने के प्रमाण देता हूँ –

यः सर्वज्ञः सर्ववित् ।[८]
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।[९]
अपहतपाप्मा विजयो विमृत्युर्विशोको
विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।।[१०]

– अर्थात् जो सर्वज्ञ तथा सर्वविद् हैं, वे विविध श्रेष्ठ शक्तियों से युक्त हैं। उनका ज्ञान, बल तथा कार्य स्वाभावसिद्ध धर्म है । वे पाप के लेशमात्र से भी रहित हैं। उनमें जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा का अभाव है। वे जो भी कामना तथा संकल्प करते हैं, वह कभी असत्य नहीं होता।

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।।[११]
नारायण एवेदं सर्वम् । निष्कलो निरंजनो
निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणः ।।[१२]
एको वै नारायण आसीत् । न ब्रह्मा नेशानो
नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो
नाग्निर्न यमो न सूर्य इति ।।[१३]

– अर्थात् नारायण ही परम ब्रह्म तथा परम तत्त्व हैं। यह सब नारायण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे ही अखण्ड, निष्पाप, विकारहीन, नामरहित, शुद्ध तथा सर्वप्रकाशक हैं। पहले एकमात्र नारायण ही थे। उस ब्रह्मा, शिव, पृथिवी, आकाश, नक्षत्र, जल, अग्नि, चन्द्रमा तथा सूर्य का अस्तित्व नही था।

भागवत साहित्य में भी लिखा है –

हरिः परायणं परं हरिः परायणं परम् ।
पुनः पुनर्वदाम्यहं हरिः परायणं परम् ।।[१४]

– अर्थात् हरि ही परम आश्रय हैं, हरि ही परम आश्रय हैं। मैं बारम्बार कहता हूँ कि हरि ही परम आश्रय हैं।

इस प्रकार कुरनाथ वेद, पुराण, इतिहास आदि से अनेकानेक प्रमाण देने लगे। विस्तार के भय से उन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। उनके मुख से वर्षा के समान शास्त्र-प्रमाणो की अविराम धारा निकलते देखकर यादव स्तम्भित रह गये। इसके पूर्व ही वे उनके सौजन्य तथा सौन्दर्य से विशेष आकृष्ट हुए थे। इसके अलावा अपना पूर्व अत्याचार, माँ की उक्ति, कांचिपूर्ण द्वारा ज्ञात श्री वरदराज का अभिप्राय आदि स्मरण करके वे स्थिर न रह सके। वे सहसा रामानुज के चरणों में गिर पड़े और मना करने पर भी दृढ़तापूर्वक उनके चरण पकड़ रोते हुए बोले, "हे रामानुज, तुम सचमुच ही राघव के अनुज हो। मैं अज्ञान से अन्धा होकर तुम्हें पहचान नहीं सका । मेरे अपराध क्षमा करो। तुम कर्णधार बनकर इस भीषण भवसमुद्र से मेरा उद्धार करो। मैं तुम्हारी शरण लेता हूँ ।" गुरु की ऐसी हालत देखकर रामानुज स्थिर न रह सके । उन्होंने तत्काल ही उन्हें भूमि से उठाकर प्रगाढ़ आलिंगन दिया और उनके हृदय की सारी अशान्ति का समूल नाश कर दिया ।

माता के आदेश पर यादवप्रकाश ने उसी दिन अपने पूर्वशिष्य से संन्यास लेकर स्वयं को कृतार्थ माना। उन्होंने ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण, अंकन, दास्य, नामग्रहण आदि पंच संस्कारों से संस्कृत होकर अरुण वस्त्र धारण किया, अतीव शोभायमान हुए और अपने गुरु द्वारा 'गोविन्ददास' नाम पाकर परम आनन्द का बोध करने लगे। भक्तिमार्ग के प्रति उनके स्वाभाविक द्वेष का समूल नाश हुआ। उनका विद्याभिमान भी जाने कहाँ लुप्त हो गया। अब से वे एक दूसरे ही मनुष्य हो गये। उनके नीरस नेत्र अब निरन्तर अनुताप के अश्रु से भीगने लगे । गर्व की जगह दैन्य ने आकर उनके चित्त पर अधिकार कर लिया। वे परम वैष्णव हो गये। रामानुज की यह अमानवीय शक्ति देखकर लोग उनकी निन्दा करना तो दूर, बल्कि उन्हें साक्षात् ईश्वर का अवतार मानने को बाध्य हुए। उनके यश-सौरभ से दिग्दिगन्त गमक उठा। अपने पूर्वगुरु का दैन्य तथा अनुताप देखकर एक बार श्री रामानुज ने कहा, "महानुभाव, आपका चित्त निर्मल हो गया है। पहले आपने वैष्णवों की बड़ी निन्दा की थी, उस अपयश को दूर करने के लिए आप वैष्णव-धर्म की महिमा बताते हुए सच्चे वैष्णव का क्या कर्तव्य है, इस विषय पर एक ग्रन्थ की रचना करें। इससे आपको पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी।"

इस सलाह को मानकर यादव ने अल्प अवधि के भीतर ही 'यति-धर्म-समुच्चय' नामक एक अतुलनीय ग्रन्थ लिखकर श्री गुरु के चरणों में अर्पित किया। उस समय उनकी आयु अस्सी के भी ऊपर हो गयी थी। इसके कुछ दिन बाद ही उन्होंने अपनी मानव-लीला का संवरण कर परमपद प्राप्त किया।

श्री रामानुज अब प्रतिद्वन्दिरहित होकर अबाध रूप से सुधीजनों के हृदय पर राज्य करने लगे।

❖ (क्रमशः) ❖

७. उपरोक्त ग्रन्थ में अथर्ववेद से उद्धृत
८. मुण्डकोपनिषद्, १/१/९
९. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६/८
१०. छान्दोग्योपनिषद्, ८/७/१
११. तैत्तिरीय-नारायणोपनिषद्, ९३
१२. नारायण-अथर्वशीर्ष-उपनिषद्, २
१३. महोपनिषद्, २
१४. हरि-भक्ति-सुधोदय, ३/५२

एक विद्यार्थी के नाम पत्र (२)

स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

(पत्र के द्वारा एक व्यक्ति अपने विचार या सन्देश दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाता है। यहाँ एक पत्र दिया जा रहा है, जो एक विद्यार्थी को सम्बोधित करके लिखा गया था। यदि तुम ज्ञान तथा अध्ययन की पिपासा रखनेवाले एक सच्चे विद्यार्थी हो, तो यह पत्र तुम्हारे लिए अवश्य ही उपयोगी होगा। दिल्ली की श्रीमती निर्मल श्रीवास्तव ने, हमारे तरुण पाठकों के लिए इसका आंग्ल भाषा से हिन्दी रूपान्तरण किया है। – सं.)

(पिछले अंक का शेषांश)

(९) तुम्हारे पास मेज-कुर्सी तो अवश्य होगी। यदि न हो तो एक छोटा डेस्क होना ही चाहिए। ध्यान रखना कि तुम्हारी आँखो तथा डेस्क के बीच उचित दूरी उचित रहे। पुस्तक यदि तुम्हारे चेहरे के बहुत पास होगी, तो आखें तथा दिमाग जल्दी थक जायेंगे और तुम्हारी पढ़ाई का नुकसान होगा।

(१०) ध्यान देने की अगली बात यह है कि तुम्हारे पास अच्छी कलम तथा पेंसिलें हो। मैं तुम्हें दो अच्छे कलम रखने की सलाह दूँगा। दूसरों को अपनी कलम मत दो, क्योंकि हर व्यक्ति का कलम पकड़ने का तरीका अलग होता है; अपनी कलम उधार देने के परिणाम की तुम स्वयं ही कल्पना कर सकते हो। फिर नयी कलम से लिखने का भी तुम्हें कुछ दिन अभ्यास करना होगा, ताकि तुम सहज भाव से उसका प्रयोग कर सको। यदि कलम ठीक हो, तो तीव्र गति से लिखने पर भी अक्षर सुन्दर बन सकते है। यदि तुम्हारी परीक्षा के उत्तर स्वच्छ तथा पठनीय अक्षरों में लिखे हों, तो परीक्षक भी उन्हें पसन्द करेंगे। यदि तुम्हारी लिखावट अच्छी हो, तो वे सहज ही अच्छे नम्बर देंगे और यदि तुम्हारी लिखावट भद्दी है, तो तुम्हें समुचित अंक नही मिल सकेंगे। अत: अपनी लिखावट पर ध्यान दो। अच्छे हस्तलेख में इन पाँच चीजों का समावेश होना चाहिए –

क. अक्षरों की बनावट सुन्दर हो।

ख. उसमें कोई धब्बे या कँाट-छाँट न हो।

ग. उसमें वर्तनी (Spelling) की अशुद्धियाँ न हों।

घ. लेखन की पंक्तियाँ सीधी हों।

ङ. वाक्यों की भाषा व्याकरण-सम्मत हो।

तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि अध्ययन से तात्पर्य पढ़ाई और लिखाई – दोनों से है। लेखन में शुद्धता जितनी जरूरी है, पढ़ने मे विवेक भी उतना ही आवश्यक है। चूँकि तुम्हें नियत समय में ही सारे प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं, अत: तीव्र गति से लिखने का भी अभ्यास करना चाहिए। प्रतिदिन नियमित रूप से तुम्हें थोड़ा कुछ लिखने का अभ्यास करना चाहिए।

११. लेखन के अभ्यास के विषय में भी मुझे कुछ कहना है। पाठ को लिखने की आदत डालो। मुझे अभी भी याद है कि जब मैं विद्यार्थी था, तो कैसे हमारे अध्यापक पाठ लिखने का अभ्यास कराते थे। मुझे अच्छी तरह याद रहने का कारण यह है कि उस समय वे डण्डे का अच्छा प्रयोग करते थे। तब तब हम पर मार पड़ती, जब अक्षर साफ नहीं होते, गल्तियाँ होतीं, पंक्तियाँ सीधी नहीं होतीं, अक्षर छोटे-बड़े हो जाते, शब्दों के बीच की दूरी बराबर नही रहती, अक्षर एक दूसरे पर झुक रहे होते; या फिर कभी ऐसा भी होता, जब नोटबुक साफ-सुथरी नहीं रहती या पाठ बिल्कुल लिखा ही न गया हो, और तब तो मार और भी ज्यादा पड़ती थी। इस प्रकार किसी-न-किसी गल्ती के कारण मार पड़ती ही रहती थी। वैसे उस समय हम डण्डे बरसाने के लिए शिक्षक पर नाराज ही होते थे, परन्तु अब हम उन्हें कृतज्ञता के साथ स्मरण करते हैं।

तुम्हें प्राथमिक स्कूल के बालक की भाँति एक ही पंक्ति को बारम्बार लिखकर अभ्यास नहीं करना है। तुम्हें जो भी भाषाएँ पढ़नी है, उनमें से प्रत्येक की पाठ्य पुस्तक से प्रतिदिन दो अनुच्छेद लिखो। इसके बाद तुम स्वयं ही जाँच करो कि क्या अक्षर ठीक बने हैं, पंक्तियाँ सीधी हैं और पुस्तक की सहायता से देखो कि कोई गल्ती हुई है या नहीं। इससे तुम्हें पता चलेगा कि पुस्तक को देखकर ठीक ठीक नकल उतारने में भी कितनी सावधानी की आवश्यकता है।

यह तो नकल-लेखन के बारे में हुआ। तुम्हें किसी चुने हुए विषय पर स्वयं ही लिखने की योग्यता भी विकसित करनी होगी। इसके लिए तुम अपनी पाठ्य-पुस्तक की सहायता ले सकते हो। पूरे पाठ को खूब सावधानी से पढ़ो और उसके विषय-वस्तु पर विचार करो। इसके बाद पुस्तक को बन्द करके पाठ को अपने शब्दों में लिख डालो। अब मूल पाठ के साथ अपने लेखन का मिलान करो। यह भी देखो कि अक्षरो की बनावट सही है, पंक्तियाँ सीधी हैं और तुमने कितनी बार गलत लिखकर उसमें काट-पीट किया है। यह भी देखो कि इस पूरे लेखन में कितना समय लगा। अगली बार लिखते समय ध्यान रखो कि पिछली गल्तियाँ फिर न हों। इस तरह के अभ्यास से तुम परीक्षा में साफ और शुद्ध लिख सकोगे।

१२. परीक्षा में सफल होने के लिए पढ़ना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि ज्ञानवर्द्धन के लिए पढ़ना। कोई बड़ा ही मेधावी तथा ज्ञानी हो सकता है, परन्तु यदि वह परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाय, तो क्या लाभ? परीक्षा में सफल होने के लिए तुम्हें हर विषय पर समान ध्यान देना होगा। तुमने लिखा

है कि गणित और विज्ञान में तुम्हें रुचि नहीं है, परन्तु कम-से-कम परीक्षा के लिए ही सही, तुम्हें इनमें रुचि पैदा करनी होगी। जो विषय तुम्हें कठिन लगते हैं, उनमें तुम्हें ज्यादा ही रुचि लेनी होगी। तुम्हें अलग से प्रयास करके उन अंशों को अपने शिक्षकों तथा अधिक योग्य विद्यार्थियों की सहायता से समझने का प्रयास करना चाहिए। शिक्षा भी तपस्या ही तो है। तुम्हें कठोर परिश्रम करना होगा।

यह सच है कि तुम्हें कुछ भाग कण्ठस्थ करने होंगे। पर सभी पाठों को कण्ठस्थ करने का प्रयास मत करो। कुछ छात्र बड़ी बहादुरी के साथ नोट्स को रटकर परीक्षा पास कर लेते हैं और वे नोट्स भी उनके अपने नहीं होते। ऐसा कभी मत करना। यदि तुमने पाठों के हर शब्द को समझकर पढ़ा है, तो वे याद करने की अपेक्षा कहीं अधिक दृढ़तापूर्वक तुम्हारी स्मृति में अंकित रहेंगे।

१३. पाठों को याद रखने का एक अन्य तरीका भी है। रविवार तथा अन्य अवकाशों के दिन तुम अपने तीन या चार सहपाठियों के साथ मिलकर पढ़ो और तदुपरान्त उनके साथ विचारों का आदान-प्रदान तथा सामूहिक चर्चा करो। इस प्रकार तुममें से प्रत्येक अपना ज्ञान दूसरों में बाँटेगा और पढ़ा हुआ विषय मस्तिष्क में भलीभाँति बैठ जायेगा। सुनना सदैव ही बड़ा प्रभावी होता है। तुमने ऐसे अनेक लोगों को देखा होगा, जो प्रवचन तथा पुराणकथा आदि सुनकर ही बहुत-सा ज्ञान संग्रह कर लेते हैं। अत: पढ़े हुए पाठों पर अपने सहपाठियों के साथ परिचर्चा करने की आदत डालो। सम्भव है तुम्हारा अपना पढ़ा हुआ याद न रहे, परन्तु दूसरों से सुना हुआ दिमाग में अंकित हो जाय। फिर टोली में पढ़ने और चर्चा करने से उत्साह भी बढ़ता है। इससे तुम्हारे मन का बल बढ़ता है और तुम्हारी पढ़ाई अधिक लाभप्रद सिद्ध होती है। मगर सावधान! व्यर्थ की बातों में समय न गँवाया जाय, क्योकि तुम जानते ही हो कि जब मित्र इकट्ठे होते हैं तो ...।

१४. अभी मुझे और भी एक महत्त्वपूर्ण बात कहनी है। कक्षा मे तुम सदैव सामने की किसी बेंच पर बैठा करो। अपने कान तथा नेत्र अध्यापक पर स्थिर रखो और उनकी बातों को ध्यान से सुनो। तुम्हारी लगन पर प्रसन्न होकर वे तुम्हारी ओर अधिक ध्यान देंगे। अपने शिक्षकों के प्रति खूब विनम्र तथा श्रद्धावान रहो। दूसरे छात्र यदि शिक्षकों पर कोई टिप्पणी करें, तो भी तुम उससे प्रभावित या अशान्त न होओ। कोई शिक्षक चाहे कितने भी कठोर हों, यदि तुम उनका सम्मान करोगे, तो वे भी तुम्हारे प्रति कृपा तथा सहानुभूतिपूर्ण भाव रखेंगे।

कोई कोई छात्र कुछ शिक्षकों के बारे में कहते हैं, "उनका व्यक्तिगत जीवन जानने के कारण हम उनका सम्मान नहीं कर सकते।" मेरा कहना है कि शिक्षकों के व्यक्तिगत जीवन के बारे में जानने की चेष्टा मत करो। इस विषय में अन्य विद्यार्थी क्या कहते हैं, इस पर ध्यान मत दो। अपने सभी अध्यापकों के प्रति ऐसा भाव रखो मानो उनके हृदय में सच्चिदानन्द गुरु निवास करते हैं। यद्यपि तुम्हें यह बात समझने में कठिनाई हो सकती है, परन्तु इस विवेकपूर्ण बात पर विश्वास करके इसी के अनुसार चलो। यह भाव निश्चित रूप से तुम्हारी सहायता करेगा और तुम्हें काफी लाभ पहुँचायेगा।

१५. फरवरी या मार्च के महीने में कुछ छात्र मेरे पास आकर पूछते हैं कि एकाग्रता में कैसे वृद्धि की जा सकती है। वे कहते हैं कि मन को वश में करना चाहते हैं और कुछ कहते हैं कि वे ध्यान लगाना चाहते हैं। क्या यह बड़ी विचित्र बात नहीं है? वस्तुत: वे यह जानना चाहते हैं कि क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे वर्ष भर में पढ़ाये गए सारे पाठ चमत्कारिक ढंग से एक झटके में ही दिमाग में बैठ जायँ, पर अफसोस! दुनिया में ऐसा कोई उपाय नहीं है। अच्छी स्मरण-शक्ति का रहस्य है – बारम्बार पढ़ना और समझना, पुन: याद करना और जो भूल गया हो उसे फिर पढ़ना। गीता के मतानुसार अभ्यास तथा लगन से एकाग्रता की प्राप्ति की जा सकती है। लगन क्या है? दिन-पर-दिन बारम्बार प्रयास करने को लगन कहते हैं। यदि तुम रोज नियमित रूप से पढ़ाई करो, तो मन स्वाभाविक रूप से ही एकाग्र हो जायेगा। अभ्यास में अपार शक्ति उत्पन्न करने की क्षमता है।

एकाग्रता को विकसित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि तुम्हारे मन में अपनी पढ़ाई के प्रति रुचि का विकास हो। तुम्हें अपने पाठों से प्रेम होना चाहिए। जिस चीज में तुम्हारा सच्चा प्रेम है, उसमें तुम्हारा मन एकाग्र हो जाता है। यह एक प्राकृतिक नियम है। अत: तुम अपने पाठों के लिए रुचि पैदा करो। इससे पढ़ाई करते समय एकाग्रता में सहायता मिलेगी।

१६. ये कुछ चीजें तुम्हारी पढ़ाई से सीधे जुड़ी हुई हैं। तुम्हें कुछ अन्य बातों पर भी ध्यान देना होगा। इनमें पहली चीज है भोजन। सही समय पर सही मात्रा में पौष्टिक आहार तुम्हारे मस्तिष्क को शान्त और ताजा रखता है। अधिक खाने से नींद आती है और कम खाने से थकान आती है। और अनियमित भोजन मन की शान्ति को नष्ट कर देता है।

१७. अब शरीर के लिए व्यायाम पर आते हैं। जो लोग खेलते हैं, वे खेलें; लेकिन तुम या तो योगासन या खुलकर व्यायाम करो। पौन घण्टे की अवधि में शरीर के हर अंग का व्यायाम कर लेना काफी होगा। व्यायाम जरूरत से ज्यादा न हो और उसे बन्द भी न किया जाय। व्यायाम सम्बन्धी यह सलाह सदा याद रखना।

१८. स्वच्छ जल पीने से तुम कई रोगों से बच सकते हो। उन्नति के मार्ग में रोग एक बड़ी बाधा है। वह मन तथा

शरीर के उत्साह को पंगु कर देता है, अत: इस विषय में सावधान रहो।

१९. अब तुम्हें एक अन्य महत्वपूर्ण सूत्र पर ध्यान देना होगा और वह है उत्साह। सदैव उत्साहित रहो। निरन्तर उत्साह से परिपूर्ण रहो। यही वह चीज है, जो जीवन की हर राह पर हमें विजयी बनाती है। तुम्हें अनन्त स्फूर्ति का निर्झर बन जाना चाहिए। तुम्हारे बड़ों द्वारा तुम्हें प्रोत्साहित करते हुए तुममें यह उत्साह जगाना चाहिए। परन्तु चूँकि बुजुर्ग लोग प्राय: अपनी ही समस्याओं से घिरे रहकर स्वयं ही प्रोत्साहन की अपेक्षा रखते हैं, अत: वे भला तुम्हें कैसे उत्साहित करेंगे? अत: यह उत्साह तुम्हे अपने अन्दर से ही जाग्रत करना होगा।

इसके लिए तुम एक अन्य युक्ति का सहारा ले सकते हो। अपने मन को आदेश दो – आगामी परीक्षा में मैं अपने मित्रों से अधिक अंक प्राप्त करके विशेष योग्यता के साथ सफलता प्राप्त करूँगा। इससे तुम्हारे अन्दर दृढ़ संकल्प उत्पन्न होगा।

इस प्रकार तुम्हें भीगे हुए चिउड़े के समान नहीं, बल्कि एक उछलती हुई गेद के समान उत्साही बनना है। सर्वदा प्रफुल्ल रहो। यदि तुम्हारा मुँह लटका रहा और त्यौरियाँ चढ़ी रहीं, तो तुममें जो थोड़ा-बहुत उत्साह है, वह भी नहीं रहेगा। पर यदि तुम्हारा चेहरा खिला रहा, तो तुम्हारे उत्साह में वृद्धि भी होती रहेगी और तुम अनन्त शक्ति, ऊर्जा तथा उत्साह की प्रतिमूर्ति बन जाओगे। इसके फलस्वरूप तुम्हारी पढ़ाई भी सुखद तथा सफल होगी। ध्यान रखो कि तुम्हारे उत्साह का फव्वारा दिन-पर-दिन नई नई ऊँचाइयों को छूता रहे।

उत्साह के विषय में एक और बात – मन यदि तन्द्रा से मुक्त हो, तो यह सक्रिय और सजग रहता है। इस प्रकार वह स्वभाव से ही उत्साहयुक्त रहता है। और यह उत्साह स्वयं ही तन्द्रा को भगाकर तुम्हारे मन को सजग रखेगा। इस बात से क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि उत्साह को बनाये रखने से तुम्हारा मन सदैव जीवन्त बना रहेगा?

तुमने देखा होगा कि बहुत-से विद्यार्थी निद्रा से बचने के लिए बीच बीच में चाय या काफी पीते रहते हैं। परन्तु धीरे धीरे उनका शरीर चाय या काफी का आदी हो जाता है और वही उनकी निद्रा का भी कारण बनता है। अत: सर्वदा अच्छे अंक पाने की आकांक्षा और स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास ही उत्साह को बनाये रखने का सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

२०. क्या तुम अपने मार्ग के एक शत्रु को जानते हो? यह है भय – परीक्षा का भय! यह अधिकाश छात्रों पर हमला करता है। जो दुर्बल हैं, वे इसके दबाव में बुखार, उल्टियों, दस्त आदि के शिकार बन जाते हैं। इस बीमारी के लिए 'परीक्षा-बुखार' के रूप में एक विशेष शब्द ही बन गया है। इसके मूल में परीक्षा का भय ही विद्यमान है। यहाँ तक कि जिन विद्यार्थियों ने अच्छी तरह पढ़ाई की है और भलीभाँति तैयारी की है, वे भी परीक्षा के समय घबरा जाते हैं। फिर औरों का तो कहना ही क्या? इस भय पर विजय पाने के लिए अपने आप से पूछो, "डरने से क्या लाभ होगा? इससे मैं बीमार ही तो पड़ूँगा। क्या मैं बीमार पड़ने के लिए भयभीत हो जाऊँ? कदापि नहीं। मैं भलीभाँति पढ़ूँगा और बहादुरी के साथ परीक्षा का सामना करूँगा।"

परीक्षा-भय को दूर करने का उपाय है – वर्ष के प्रारम्भ से ही सुनियोजित ढंग से पढ़ना। एक नियमित और अनुशासित छात्र को परीक्षा से डरने की जरूरत नहीं। तथापि भय तो मनुष्य के अन्त:करण में रहता ही है; अत: अपनी पढ़ाई के बावजूद तुम्हें भय का अनुभव हो सकता है। अपनी कक्षा के आलसी विद्यार्थियों को भयग्रस्त देखकर सम्भव है कि तुम भी आतंकित होकर सोचने लगो – "ओह, मेरी पढ़ाई पूरी नही हुई है और परीक्षा सिर पर आ पहुँची। अब मैं क्या करूँ?" लेकिन यह जान लो कि यदि तुमने इस भय को प्रश्रय दिया, तो यह तुम्हारे देह-मन की शक्ति को क्षीण कर देगा और फल यह होगा कि परीक्षा में लिखते समय तुम्हें लगेगा कि तुमने जो कुछ भी पढ़ा था, वह सब मानो भूल गये हो। इसी भय के कारण तुमसे उत्तर लिखने में गल्ती हो जाती है।

अत: यह जरूरी है कि तुम आत्मविश्वास और नियमित पढ़ाई के द्वारा अपने मन में छिपी हुई भय की ग्रन्थि को जड़सहित निकाल फेंको।

२१. अब तुमने एक नया शब्द सुना – आत्मविश्वास! इसका क्या अर्थ है? इसका तात्पर्य है अपनी शक्ति में और अपनी पढ़ाई पर विश्वास। ऐसी दृढ़ धारणा कि तुम परीक्षा में शान्त मन से ठीक लिखोगे – आत्मविश्वास है। यदि तुम ऐसा कर सको, तो भय दूर होकर उत्साह फूट पड़ेगा।

२२. तो अब तुम्हें बहुत-सी बातें ज्ञात हो गयीं। यदि तुम इन्हें समझते हो, तो सफलता निश्चित है। अब एक अन्तिम सलाह यह है कि इस पत्र को तुम बीच बीच में पढ़ते रहना। इसमें जो कुछ भी लिखा गया है, उसे आत्मसात करने के बाद ही पढ़ाई शुरू करनी होगी। बीच बीच में यह भी जाँचते रहो कि क्या तुम नियमित रूप से इन सलाहों पर चल पा रहे हो!

ईश्वर करें कि तुम अगली परीक्षा में विशिष्टता के साथ उत्तीर्ण होओ।

प्रीति एवं शुभकामनाओं के साथ

— स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

(शेष आगामी अंक में)

प्राचीन भारतीय इतिहास पर नवीन आलोक (३)

डॉ. नवरत्न राजाराम

(आज पुरातत्त्व, खगोल, प्राचीन गणित, उपग्रह छायाचित्रण आदि में हुई नई खोजें बताती हैं कि सिन्धु से गंगा तक फैला मैदान इस आद्य सभ्यता की क्रीड़ाभूमि थी और यहाँ वैदिक संस्कृति की जड़ें ई. पू. ७००० के भी पहले से हैं। प्रस्तुत लेख अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के सितम्बर से नवम्बर १९९६ के अंकों में प्रकाशित हुआ था, जिसका अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी राजेन्द्रानन्द ने किया है। – सं.)

सिन्धु से गंगा तक :

वैदिक भारत तथा प्राचीन संसार –

पिछले अंकों में हमने देखा कि किस प्रकार उपनिवेशवादी राजनीति, जर्मन राष्ट्रवाद तथा कुछ भाषाई सिद्धान्तों ने मिलकर एक ऐसे इतिहास की रचना की, जो समस्त वैज्ञानिक तथ्यों के विपरीत है। यूरोपीय राजनीति तथा वैज्ञानिक अज्ञान से इस सिद्धान्त का एक परिणाम यह रहा है कि इसने एक अति महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक समस्या को छद्म-वैज्ञानिक नस्लवादी सिद्धान्तों में उलझा दिया। इनमें से पहली बात तो भाषाओं के उद्भव तथा प्रसार से सम्बन्धित है और वह यह कि क्यों भारत तथा श्रीलंका से लेकर इंग्लैंड तथा आयरलैण्ड तक के लोग एक-दूसरे से स्पष्ट रूप से सम्बद्ध भाषाएँ बोलते हैं। और अधकचरे भाषाई विचारों से मिलकर, दूसरे तथ्य ने आर्यों द्वारा आक्रमण की मनगढ़न्त कथा को जन्म दिया। अब समय आ गया है कि इन दोनों उलझनों को सुलझाकर अपने पूर्वजों के बारे में और भी अधिक जानें।

अलबर्ट आइंस्टीन ने एक बार कहा था, "किसी सिद्धान्त को कदापि अनुभवजन्य तथ्यों का विरोधी नहीं करना चाहिए।" तथापि यह स्पष्ट है कि समग्र प्राचीन विश्व को प्रभावित करनेवाला भारत-सम्बन्धी वर्तमान ऐतिहासिक सिद्धान्त, इस मूलभूत कसौटी पर भी खोटा सिद्ध होता है। परन्तु १९वीं शताब्दी के इस औपनिवेशिक-धर्मप्रचारक परिकल्पना से यदि हम अपने को अलग कर लें, तो हमें वस्तुतः एक अतीव प्राचीन सभ्यता – सभ्यताओं का उदय होने से भी पहले के संसार को देखने के लिए एक खिड़की मिल जाती है। वेदों तथा पुराणों रूपी हमारे प्राचीन भारतीय अभिलेखों, विशेषकर पुराणों में इस प्राचीन विश्व की स्मृतियाँ संरक्षित हैं। इससे हमें भारत-यूरोपीय (भारोपीय) भाषाओं के उद्भव तथा प्रसार की पहेली का उत्तर पाने में भी मदद मिलेगी।

सर्वप्रथम हम अपने स्रोतों के बारें में कुछ शब्द कहेंगे। इतिहास की दृष्टि से प्राचीन भारतीय स्रोतों को वैदिक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक – तीन प्रकार के साहित्य में बाँटा जा सकता है। वैदिक साहित्य में ज्यादा इतिहास नहीं है। १९वीं सदी के विद्वानों ने यह विश्वास करके महान् भूल की थी कि उन्हें ऋग्वेद में इतिहास सम्बन्धी तथ्य और विशेषकर आर्यों द्वारा आक्रमण विषयक अपने प्रिय परिकल्पना के समर्थक तथ्य मिल सकेंगे। इसके परिणामस्वरूप वेदों की अति भ्रान्त व्याख्या हुई और उन्हें तोड़-मरोड़कर ऐसा प्रस्तुत किया गया मानो वह आक्रान्ता आर्य जाति का रोजनामचा हो।

प्राचीन भारत की ऐतिहासिक परम्परा वेदों में नहीं, अपितु महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त होती है। और वेद, पुराण तथा महाभारत में से कोई भी न तो किसी आक्रमण के बारे में जानकारी देता है और न ही भारत को छोड़ किसी अन्य स्थान को स्वदेश बताता है। ठीक आज की ही तरह उनमें भारत की सीमा से बाहर के देशों को विदेशी भूमि माना गया है। इसी कारण अर्थात् उन पश्चिमी विद्वानों के प्रिय सिद्धान्त को समर्थन न देने के कारण इन्हें गलत मानते हुए अस्वीकार कर दिया गया और एक नई ही कल्पना गढ़ी गयी कि प्राचीन भारतवासियों में इतिहास-विषयक कोई धारणा ही नहीं थी – परन्तु तथ्य इस आरोप का समर्थन नहीं करते। भारत के सम्पर्क में आनेवाले प्राचीन यूनानी तथा चीनी यात्रियों ने श्रद्धापूर्वक भारतवासियों द्वारा इतिहास तथा परम्परा के संरक्षण का उल्लेख किया है। १९वीं सदी के विद्वानों द्वारा इन महत्त्वपूर्ण प्राचीन अभिलेखों की अस्वीकृति के लिए उनमें वैज्ञानिक प्रशिक्षण के अभाव तथा पूर्वाग्रह को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, उनमें से अधिकांश या तो ईसाई धर्मप्रचारक थे या फिर स्वार्थपर औपनिवेशिक नौकरशाह।

एक बार यदि हम प्राचीन ग्रन्थों का निष्पक्ष अध्ययन करें, तो उसमें प्राचीन विश्व का एक ऐसा विलक्षण तथा सुसंगत वर्णन मिल जायेगा, जिससे लगभग पिछले हिमयुग तक की जानकारी मिल सकती है, पर यह अध्ययन न केवल भारतीय अभिलेखों के प्रयोग की अपेक्षा रखता है, अपितु इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण प्राचीन तिथियों के निर्धारण हेतु व्यापक स्रोतों से वैज्ञानिक तथा तकनीकी आकड़ों का समायोजन भी करना होगा। सर्वप्रथम तो हमें अपने अतिप्राचीन भूतकाल के कालानुक्रम का बोधकचिह्न निर्धारित करना होगा। भारतीय परम्परा सर्वदा ही ई.पू. ३१०२ में महाभारत युद्ध की समाप्ति से कलियुग का प्रारम्भ मानती है। कुछ काल पूर्व तक (मेरे सहित) बहुत-से आधुनिक विद्वानों ने यह तिथि काल्पनिक ही मानी थी। पर हाल ही में हुए आगे के शोधों से लगता है कि यह तिथि शायद ठीक है। इसी तिथि को ध्यान में रखकर मैं यह विचार तथा अपने दृष्टिकोण को समझाने का प्रयास करूँगा।

प्राचीन अंकगणित और विशेषकर रेखागणित के ज्ञान को मैं अपने कार्य का मूल संकेतक मानता हूँ। अंकगणित में कई सुविधाएँ है। पहली सुविधा तो यह कि तर्क इसमें अन्तर्निहित है, जो हमें विचारो के उद्भव तथा विकास को खोजने का मौका देता है। उदाहरणार्थ यह सहज ही जाना जा सकता है कि अंकगणित का विकास बीजगणित से पहले हुआ। और उसी प्रकार बीजगणित तथा रेखागणित के बाद ही कैल्कुलस का विकास हुआ होगा। फिर गणितीय परिणाम राजनीतिक व सांस्कृतिक कारणों से प्रभावित नहीं होते, जैसा कि भाषा तथा साहित्य के हो सकते हैं। यह बात विशेषकर प्राचीन पुरातत्त्व तथा साहित्य के अध्ययन में महत्त्व रखती है। हमने देखा कि सिन्धु घाटी में स्थित हड़प्पा के अवशेष नगर-नियोजन का अत्यन्त विकसित ज्ञान दर्शाते हैं। हड़प्पा के नगरों जैसे नियोजन तथा स्वच्छता के स्तर तक पहुँचने के लिए विश्व को रोमन साम्राज्य का उदय होने तक और भी दो हजार से अधिक वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी।

इसके बाद हमें लोथल में कम-से-कम ई. पू. २६०० का बन्दरगाह भी देखने को मिलता है, जो इंजीनियरी में काफी कुशलता दर्शाती है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। स्पष्ट है कि अंकगणित और विशेषकर रेखागणित का काफी परिष्कृत ज्ञान हुए के बिना इंजीनियरी के ऐसे असाधारण कार्य सम्पन्न कर पाना असम्भव होता। कई इतिहासकार ऐसा दावा करते हैं कि सिकन्दर के बाद यूनान से ही भारतवासियों को रेखागणित का ज्ञान प्राप्त हुआ, परन्तु केवल वैज्ञानिक अज्ञता को ही ऐसी धारणा के लिये उत्तरदायी माना जा सकता है। पायथागोरस के दो हजार वर्ष पूर्व ही हड़प्पा के नगरों की रूपरेखा बनाने तथा निर्माण का कार्य हो चुका था। पायथागोरस से दो हजार वर्ष पूर्व ही उसके तथाकथित प्रमेय का वर्णन वैदिक भाष्यकार बोधायन ने स्पष्ट रूप से कर दिया था। रेखागणित के लिए वे बैठकर यूनानियों की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। अंकगणित और विशेषकर रेखागणित जाने बिना नगरों तथा बन्दरगाहों के समान इंजीनियरी परियोजनाएँ पूरी नहीं हो सकती थीं।

अब प्रश्न उठता है कि इन लोगों को अंकगणित का ज्ञान कहाँ से मिला? इसका उत्तर बड़ा सरल है। वेदों के पूरा होने तथा उनके सम्पादन के बाद एक तरह का साहित्य बना, जिसे सूत्र कहा गया। सूत्रों ने सारे उपयोगी ज्ञान को व्यवस्थित तथा एकत्र किया और सहज ही याद करने योग्य सूत्र या डोरी में पिरोकर रख दिया। अंग्रेजी के स्ट्रींग या डोरी शब्द के लिए संस्कृत में सूत्र शब्द का प्रयोग होता है। रेखागणित तथा अंकगणित के मूल पाठ रूप शूल्ब-सूत्र भी सूत्र साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि इन शुल्ब सूत्रों में उन यज्ञकुण्डों की रूपरेखा तथा निर्माण सम्बन्धी गणितीय निर्देश है, जो ईसा के लगभग ३००० वर्ष पूर्व निर्मित हड़प्पा के अनेक स्थलों में पाए गये हैं। मूलत: इस धार्मिक तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धी गणित के लौकिक उपयोग हैं – नगर-नियोजन तथा स्थापत्य।

एक तरह से इसकी तुलना छापेखाने के विकास से की जा सकती है। यद्यपि बाइबिल ही सर्वप्रथम मुद्रित होनेवाली पुस्तकें थीं, परन्तु इस कला ने शीघ्र ही अपने मूल परिवेश की श्रेष्ठता से भी बढ़कर ज्ञान के क्षेत्र में एक ऐसी क्रान्ति ला दी, जिसे यूरोपीय पुनर्जागरण कहते हैं। जैसे पुनर्जागरण गुटेन्बर्ज बाइबिल के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली मुद्रण-तकनीकी से ही सम्भव हुआ थां, वैसे ही हड़प्पा की महान् नागरी सभ्यता भी शुल्बसूत्र के धार्मिक गणित का ही एक प्रतिफल थी।

यह नि:सन्देह महाभारत-युद्ध के काल से मेल खाता है। इन सूत्रों के रचयिता पहले से ही महाभारत के युद्ध को प्राचीन मानते हैं, जबकि हड़प्पा के पुरातत्त्व को जानने के लिए सूत्र-रचना में पाए जाने वाले गणित की आवश्यकता पड़ती है। इसके आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हड़प्पा संस्कृति का पूर्ण उत्कर्ष होने के पूर्व ही महाभारत का युद्ध हो चुका था। ईसा के लगभग २७०० वर्ष पूर्व हड़प्पा के नगर अपने वैभव के चरमोत्कर्ष पर थे। अत: ईसा के ३१०२ वर्ष पूर्व की पारम्परिक तिथि सूत्र-साहित्य से मेल खाती प्रतीत होती है। स्वर्गीय ए. सीडेनबर्ज ने सिद्ध किया है मिस्र तथा प्राचीन बेबीलोनिया – दोनों के गणित शुल्ब-सूत्र पर आधारित है। मैंने पाया कि महाभारत की यह तिथि उन गणितों से प्राप्त साक्ष्यों से भी काफी मेल रखती है। मैंने अपने ग्रन्थ में दिखाया है कि ईसा से २७०० वर्ष या उससे भी पूर्व निर्मित मिस्र के पिरामिडों के निर्माण भी शुल्ब-सूत्रों में पाए जानेवाले विचारों के आधार पर हुआ है। महाभारत-युद्ध की तिथि ईसा के ३१०२ वर्ष पूर्व होने का समर्थन खगोल-शास्त्र भी करता है। ये सारे तथ्य इस युद्ध की पारम्परिक तिथि के समर्थन में जोरदार प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अत: हम सहज ही इस तिथि को तल-चिह्न या मानक-सन्दर्भ मान सकते हैं।

यूरोप के भाषाविद् तथा उनके आधुनिक भारतीय अनुयायी अब भी सूत्र-साहित्य का रचनाकाल खुदाई में प्राप्त हुए उनके प्रयोग के २००० वर्ष बाद अर्थात् ईसा के ५०० वर्ष पूर्व मानते हैं। थोड़ी-सी समझ हो, तो भी पता चल जायेगा कि ऐसा असम्भव क्यों है। आज हम लोग कम्प्यूटर के युग में जी रहे हैं। हमारे पास कम्प्यूटर तथा उनसे सम्बन्धित बहुत-सा साहित्य भी है। ऐसा इसलिए है कि कम्प्यूटरों तथा उनके उपयोग से सम्बन्धित साहित्य का विकास साथ-साथ होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि कम्प्यूटरों का प्रयोग तो आज हो और इनके साहित्य की रचना भविष्य में २००० वर्ष बाद हो! पर इतिहास की प्रचलित व्याख्या तो हमें ऐसा ही बता रही है। ये इतिहासकार हमें बताते हैं कि ईसा के करीब ३०००-२०००

वर्ष पूर्व हड़प्पा के निर्माण में गणित का प्रयोग हुआ था, जबकि उस सभ्यता के लिए तकनीकी आधार के रूप में रचे गये सूत्र-साहित्य की रचना ईसा के ५०० वर्ष पूर्व ही हुई। केवल वैज्ञानिकता से अनभिज्ञ व्यक्ति ही ऐसी युक्ति दे सकता है। अत: हड़प्पा की संस्कृति निश्चित रूप से सूत्रकालीन है।

अब हम पुन: महाभारत काल की ओर लौट चलते हैं, जहाँ से वैदिक युग का अन्त तथा नये युग का प्रारम्भ हुआ। इससे हमें वैदिक युग के सम्भावित काल के विषय में एक सूत्र मिल सकता है। मूल महाभारत के रचयिता व्यासदेव आज उपलब्ध वेदों के संकलन तथा सम्पादन के लिए भी उतने ही प्रसिद्ध हैं। जैसा कि हमने देखा, यह कार्य ईसा के लगभग ३१०० वर्ष पूर्व सम्पन्न हुआ। प्राचीन वंशसूचियों से हम जानते हैं कि महाभारत-युद्ध में मारा गया अर्जुनपुत्र अभिमन्यु (ऋग्वेद के) दस राजाओं के युद्धवाले राजा सुदास की ३१वीं या ३२वीं पीढ़ी का था। सुदास के पुरोहित वसिष्ठ के बारे में हम पहले ही जान चुके हैं। लम्बे काल तक अस्तित्व में रहनेवाले राजवंशों के लिए प्रति पीढ़ी के लिए २० वर्ष का समय उचित माना जाता है; इस हिसाब से देखें तो हम सुदास और साथ ही वसिष्ठ का काल ईसा के ३७२० वर्ष पूर्व पाते हैं। हम याद दिलाना चाहेंगे कि (धातुनिर्मित) वसिष्ठ के सिर की वैज्ञानिक ढंग से निर्धारित तिथि भी यही है। अत: ऋग्वैदिक काल की समाप्ति की तिथि ईसा के ३८०० और ३७०० वर्ष पूर्व के बीच में पड़ती है।

धातुनिर्मित वशिष्ठ का सिर

ये वसिष्ठ ही रामायण में प्रसिद्ध श्रीराम के गुरु थे। राम के बाद की पीढ़ी का ३१वाँ या ३२वाँ राजा बृहद्बल भी महाभारत के युद्ध में मारा गया था। यदि पहले की तरह दुबारा गणना की जाए तो वसिष्ठ का काल तथा ऋग्वैदिक युग की समाप्ति ईसा के ३८०० और ३७०० वर्ष पूर्व के बीच में पड़ते हैं। यहाँ तक १८९३ ई. में ही बाल गंगाधर तिलक ने (ऋषि वसिष्ठकृत) ऋग्वेद के सातवें मण्डल में प्राप्त खगोलशास्त्रीय आकड़ों के आधार पर यही तिथि बतायी थी।

वसिष्ठ द्वारा 'पर्वतों से सागर तक बहनेवाली' नदी के रूप में वर्णित सरस्वती नदी के बहाव के बारे में प्राप्त नवीनतम आँकड़े उसी तिथि की पुष्टि करते हैं। फ्रांस के स्पॉट नामक उपग्रह से प्राप्त आंकड़ों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने से पता चलता है कि ऋग्वेद में वर्णित उत्तरी भारत का भूगोल तथा जलप्रवाह ईसा के ३००० वर्ष पूर्व के भी कई सदी पूर्व के हैं। अत: अंकगणित, खगोलशास्त्र, पुरातत्त्व तथा धातुविज्ञान से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर हम निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ऋग्वेद का काल अधिक-से-अधिक ईसा के ३७०० वर्ष पूर्व तक समाप्त हो चुका था। इस तिथि के पक्ष में कई प्रबल प्रमाण हैं। अब यह पुरातत्त्व और धातुविज्ञान की नवीनतम खोजों और विशेषकर सरस्वती के तट पर कुणाल नामक स्थान से ३००० वर्ष ईसापूर्व से भी अधिक पुराने चाँदी के गहनों की खोज से भी इसी की पुष्टि होती है।

वैज्ञानिक तरीके से प्राप्त इस कालानुक्रमिक सन्दर्भ-चिह्न की प्राप्ति से वस्तुत: क्रान्तिकारी तात्पर्य निकलते हैं। इतिहासज्ञ हमें सदा से बताते रहे हैं कि सभ्यता का प्रारम्भ ईसा के तीन हजार वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया की नदी-घाटियों में हुआ था। परन्तु अब हम जानते हैं कि ऋग्वेद की रचना उससे भी करीब एक हजार वर्ष पहले पूरी हो चुकी थी। प्राचीन भारत तथा ऋग्वैदिक काल की शुरुआत अब उससे भी काफी पूर्व निर्धारित की जानी चाहिए। ये सारे तथ्य अब अनेक विभिन्न स्रोतों से प्राप्त प्रभूत वैज्ञानिक आंकड़ों द्वारा समर्थित हैं।

लोकमान्य तिलक तथा डेविड फ्राली जैसे वैदिक विद्वानों को ऋग्वेद में ऐसे भी सन्दर्भ मिले हैं, जो ६००० वर्ष ईसा-पूर्व से भी पहले की तिथियों का संकेत देते हैं। मैं स्वयं इस विषय में अनुदारवादी हूँ, तो भी महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को ईसा के ४६०० वर्ष पूर्व तक रखने में मुझे कोई कठिनाई नहीं होती। वस्तुत: इसी तिथि के आसपास मान्धाता नामक एक भारतीय सम्राट् ने भारत के उत्तर-पश्चिमी अंचल में द्रुह्यु नामक जाति के विरूद्ध सैनिक अभियान शुरू किए। इसके फलस्वरूप वे भारत छोड़ने के लिए बाध्य हुए और बहुत बड़ी संख्या में उनका पश्चिमी एशिया तथा और भी पश्चिम में यूरोप तक प्रव्रजन हुआ। भाषाई सजातीयता और पौराणिक कथाओं एवं विश्वासों में समानता के आधार पर यह दर्शाया जा सकता है कि प्राचीन भारतीय तथा यूरोपवासी कभी अवश्य ही घनिष्ठ सम्पर्क में रहे होंगे। भाषा तथा संस्कृति के व्यापक विश्लेषण के द्वारा श्रीकान्त तलगेरी ने दिखाया है कि प्राचीन यूरोपियनों में से बहुत-से लोग मान्धाता द्वारा द्रुह्यु लोगों के विरुद्ध सैनिक अभियान के बाद की भारत से बाहर जानेवाली लहर के अंग थे। द्रुह्यु लोग प्राचीन यूरोप में druids (celtic) ड्रुइड्स (केल्टिक) नाम से जाने गए।

आजकल के समान ही उन दिनों भी भारत का उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र अशान्त तथा उपद्रवग्रस्त था। द्रुह्यु लोगों के विरुद्ध सम्राट् मान्धाता के सैन्य अभियान के लगभग हजार वर्ष बाद राजा सुदास को भी द्रुह्यु लोगों के नेतृत्व में आनेवाले परिसंघ और पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम की अन्य जातियों से एक बार फिर जूझना पड़ा था। इसका परिणाम हुआ दस राजाओं का युद्ध, जिसका वर्णन वसिष्ठ द्वारा ऋग्वेद के सातवें मण्डल में किया गया है। यह प्राचीन इतिहास की एक निर्णायक घटना थी। ऋग्वेद में सुदास द्वारा पराजित और पीछा करके देश के निकाले जानेवालों में पृथु-पार्थव, परसु, अलीन तथा अन्य जातियों के नाम हैं। ये लोग यूरोप तथा पश्चिम एशिया की अनेक प्राचीन जातियों के पूर्वज हैं।

पृथु-पार्थव को आज पार्थियन के नाम से जाना जाता है, वास्तव में पार्थियन अपने को पार्थव कहते थे। परसु पारसी और अलीन प्राचीन यूनान के हेलेन कहलाए। सुदास के अन्य विरोधियों में पक्थ तथा बल्हण भी थे। उनके वंशज आज पठान (या पख्तून) और बोलन दर्रे के बलूच कहे जाते हैं। और श्रीकान्त तलगेरी ने अपने शानदार अध्ययन में और भी कई जातियों का उल्लेख किया है। अत: प्राचीन विश्व की अनेक भारोपीय जातियों का सम्बन्ध अति प्राचीन भारत से जोड़ा जा सकता है। वैसे इसमें इसकी व्याख्या भी मिल जाती है कि क्यों भारत से लेकर आयरलैण्ड तक के लोग परस्पर मिलती-जुलती भाषाएँ बोलते हैं। वे लोग मूल भारोपीय जाति के थे।

ये तथ्य केवल आर्यों द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त को ही नहीं, अपितु प्राचीन इतिहास की सम्पूर्ण व्याख्या को भी पूरी तौर से उलट-पलट देते हैं। कम-से-कम भाषाई आधार पर तो कहा ही जा सकता है कि भारतीय आर्य भारोपियों की शाखा नहीं, बल्कि वस्तुत: वे ही वह मूल थे, जिनसे प्राचीन भारोपीय निकले। फिर, आर्यों द्वारा आक्रमण होना तो दूर, उल्टे वैदिक मुख्य-भूमि में पारिवेशिक तथा राजनीतिक उथल-पुथल से उत्पन्न मिले-जुले कारणों से, भारत से ही बारम्बार प्रव्रजन होता रहा। पश्चिम एशिया तथा तुर्की में पाये जा रहे प्राचीन शिलालेखों से इस तथ्य का समर्थन होता है।

अगला प्रश्न यह उठता है कि वेदों और सूत्रों से रूप में क्यों प्राचीन भारत में इतना असाधारण साहित्यिक तथा बौद्धिक विकास हुआ और बाद में उसका क्या हुआ? इसका उत्तर मेरे मतानुसार पिछले हिमयुग के बाद इस क्षेत्र के मौसम में आये अनोखे बदलाव में पाया जा सकता है। करीब १० हजार वर्ष पूर्व धीरे धीरे हिमयुग का अन्त होने लगा। इसके फलस्वरूप उत्तर में जमे हुए हिम-शिखरों के पिघलने से भारत के मैदानी भागों में काफी जल आने लगा। आज भी उत्तरी भारत की नदियों में हिमालय के हिमनदों से ही पानी आता है।

कई हजार वर्ष तक पिघलते हुए हिम-शिखरों ने अधिकांश उत्तरी भारत को अदन के उद्यान के समान एक विशाल उपवन में परिणत कर दिया। सिन्ध, राजस्थान एवं बलूचिस्तान आदि के कई सूखे इलाके उन दिनों उपजाऊ थे और इस कारण वे बहुत बड़ी जनसंख्या का निर्वाह करते थे। अब इस तथ्य की पुष्टि पुरातत्त्व तथा उपग्रह के छायाचित्रों से भी की जा चुकी है। परन्तु समृद्धि का यह युग चिर काल तक चलनेवाला नहीं था। अगले कई हजार वर्षों के दौरान हिम-भण्डार घट गया और तब तक सम्भवत: जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से जीवन-निर्वाह में कठिनाई आने लगी। इन कारणों ने सीमा पर रहनेवाले लोगों को जल व अधिक उपजाऊ भूमि की खोज में सरस्वती के मैदानों में उतर आने को बाध्य कर दिया। द्रुह्युओं के विरुद्ध मान्धाता के सैन्य अभियानों व दस राजाओं के युद्ध के बाद हुए प्रव्रजन के लिए मान्धाता तथा सुदास के सैन्य अभियानों के साथ पारिवेशिक कठिनाइयों को भी समान रूप से उत्तरदायी मानना चाहिए। इस परिकल्पना के अनुसार पारिवेशिक और साथ ही राजनैतिक उथल-पुथल के कारण ही भारोपियों का सिन्धु से गंगा के मैदानों की ओर फैलाव हुआ।

और हड़प्पा की सभ्यता का क्या हुआ? आर्यों के आक्रमण की अवधारणा को त्यागने के बाद अब हमें दूसरे, सम्भवत: प्राकृतिक कारणों की ओर देखना होगा। बहुधा बाढ़ को इसके विनाश का कारण बताया जाता है, परन्तु बाढ़ें दस लाख वर्गमील में फैली सभ्यता को नष्ट नहीं कर सकती। बाढ़ों से प्राणहानि तो होती है, परन्तु वे जीवन-संचार भी करती हैं। लोग उसके अनुसार अपने को ढाल लेते हैं। बंगाल, मिस्र में नील नदी का मुहाना और चीन में यांग्त्से नदी की घाटी – ये विश्व के सर्वाधिक बाढ़ग्रस्त क्षेत्र होकर भी सर्वाधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों में है। शुष्कता या जल का अभाव ही सभ्यताओं का नाशक है। और अब हम जानते हैं कि हड़प्पावासियों के साथ ठीक यही हुआ।

इस बात के पक्के सबूत हैं कि हमारे पड़ोस की अक्काडियन सभ्यता ईसा के २२०० वर्ष पूर्व से लेकर लगातार तीन सौ वर्षों तक चले लम्बे अकाल के कारण नष्ट हो गयी थी। हो सकता है कि इसकी शुरुआत ज्वालामुखी के एक भीषण उद्गार से हुई हो। इसका कारण ज्वालामुखी हो या न हो, पर उनके पड़ोस की मेसोपोटामिया तथा सिन्धु घाटी की सभ्यताओं पर इसका प्रभाव भयंकर था। प्रथमत: तो हिमनदों के क्षरण और अन्तत: सरस्वती के सूख जाने से जल की कमी के कारण वे पहले से ही दबाव में थे। उत्तरी भारत सम्भवत: अति-जनसंख्या से भी परेशान था। और यह अकाल अन्तिम चोट थी। इससे ईसा के लगभग २००० वर्ष पूर्व सम्पूर्ण मध्य-पूर्व तथा पश्चिमी एशिया में हिट्टियों, मितानियों तथा

क़साइटों के रूप में भारतीय राजवंशों के व्यापक रूप से प्रकट होने की व्याख्या भी मिल जाती है। ये लोग ईसा के २२०० वर्ष पूर्व से पश्चिमी भारत में प्रारम्भ होनेवाली प्राकृतिक आपदा के फलस्वरूप अपने वतन से विस्थापित हुए थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हड़प्पावासी न केवल वैदिक आर्यों के अंग थे, बल्कि उन्हीं के साथ वैदिक युग की समाप्ति भी हुई। प्राच्य दर्शन तथा पाश्चात्य बुद्धिवाद – दोनों के ही बीज वैदिक परम्परा में मिल जाते हैं। सभी वेद और विशेषकर ऋग्वेद मिस्र, सुमेर तथा सिन्धुघाटी की सभ्यता के उदय से भी पहले की प्रारम्भिक स्तर की सभ्यता से सम्बन्ध रखते हैं। यह था आदिम आर्यों का वह संसार, वह मिट्टी जिसमें भारत-यूरोपीय नामक विशाल वृक्ष का विकास हुआ।

फिर वसिष्ठ के (धातुनिर्मित) सिर के आविष्कार का क्या तात्पर्य है? वस्तुत: क्या वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में पाया जानेवाला पारम्परिक इतिहास का विवरण सत्य है? तो क्या हम ऋग्वेदिक काल के अन्त में आविर्भूत होनेवाले वसिष्ठ के सिर पर किये गए परीक्षणों के आधार पर ठोस रूप से उनकी तिथि ईसा के ३७०० वर्ष पूर्व निर्धारित नहीं कर सकते?

मुझे लगता है कि कठोर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ऐसा करना उचित नहीं होगा, इसीलिए यहाँ प्रस्तुत ऐतिहासिक परिदृश्य का निर्माण करने हेतु अंकगणित, नक्षत्र-विज्ञान, पुरातत्त्व, उपग्रह-छायाचित्रण तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त तथ्यों व आकड़ों के बीच तालमेल स्थापित करने के लिए इतना सब करना पड़ा है। ऐसा इसलिए कि कम-से-कम तकनीकी दृष्टि से हम कह सकें कि वसिष्ठ का सिर एक ऐसी चीज है, जो इस पहेली को सुलझाने में सहायता कर सकती है। इसकी सहायता लेने या न लेने पर भी हमारे निष्कर्ष ज्यों-के-त्यों रहेंगे। परन्तु आर्यों द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त के अनुयाइयों के लिए तो यहाँ प्रस्तुत किया गया सिर तथा प्रत्येक साक्ष्य अलंघ्य समस्या सिद्ध होगी। उनके पास तो अब केवल एक ही विकल्प बच रहा है और वह यह कि वे समस्त आकड़ों तथा तथ्यों को नकार कर अपने पालतू सिद्धान्त से चिपके रहें। वस्तुत: यही हर छद्म-विज्ञान की विशेषता है। भारतीय विद्यालयों में पढ़ाया जानेवाला प्राचीन इतिहास छद्म-विज्ञान पर आधारित है।

मुझे आशा है कि यह एक अन्य बात को भी रेखांकित करने में सहायक होगा। प्राचीन तिथियों तथा घटनाओं पर विचार करते समय हमें तथ्यों के केवल एक ही स्रोत से सन्तुष्ट होकर चैन से नहीं बैठ जाना चाहिए। किसी सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिये हमें कई तरह के स्वतंत्र साक्ष्य ढूँढ़ने का प्रयास करना चाहिए। इस विधि की अवमानना ही १९वीं शताब्दी के विद्वानों की एक महान् असफलता रही; क्योंकि उन्होंने वह सब कुछ अस्वीकार कर दिया, जो उनकी पूर्व-धारणाओं से मेल नहीं खाता था। जैसा कि श्रीअरविन्द ने लिखा है, वे "... अपने पूर्वाग्रह के अनुसार सिद्धान्त बनाने तथा उनके लिए तथ्य-संग्रह व अनुमान गढ़ने के पापकर्म में" लगे रहे। यह छद्म-विज्ञान का एक उत्कृष्ट नमूना है।

एक अन्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस लेख में जो कुछ भी प्रस्तुत किया गया है, वह उपसंहार नहीं, एक भूमिका मात्र है। प्राचीन भारत का अध्ययन १९वीं सदी की जालसाजी तथा उसके आधुनिक रूपों से मुक्त, नये सिरे से आरम्भ हो। हमें विज्ञान तथा परम्परा को एक साथ लेकर चलना होगा। प्राचीन इतिहास के अध्ययन में आधुनिक राजनैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्तों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

परन्तु हमारे बीच में वसिष्ठ के पुन: प्रकट होने को एक बिल्कुल ही अलग, प्रतीकात्मक रूप में भी देखा जा सकता है, क्योंकि इस संसार में प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष आकड़ों तथा विज्ञान में नहीं समेटा जा सकता। पिछले दो सौ से भी अधिक वर्षों से कुछ विद्वान् इतिहास को नष्ट करने तथा युवकों के मन में मिथ्या सिद्धान्तों का जहर घोलकर उन्हें उनकी प्राचीन विरासत से विमुख करने के प्रयास में लगे हैं। परन्तु महर्षि वसिष्ठ को यह सहन नहीं हुआ। अत: मानो वे अपने घटना-बहुल जीवन के अनुरूप नाटकीय ढंग से स्वयं ही प्रकट हो गये और वैदिक जगत् तथा अपने अस्तित्व के विषय में अविश्वासियों की तीव्र भर्त्सना करते हुए उनकी शंकाओं का सदा-सर्वदा के लिए निराकरण कर दिया। भगवद्गीता के दो प्रसिद्ध श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे युगे ।। ४/७-८

– हे भारत, जब जब धर्म का नाश और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों के विनाश और धर्म के उत्थान हेतु हर युग में अवतरित होता हूँ।

मानो इस पुरातन भविष्यवाणी को पूरा करने के लिए ही ऋषि वसिष्ठ धरती पर अब पुन: आविर्भूत हुए और मिथ्या के प्रवक्ताओं को पलायन के लिए मजबूर कर दिया। इन महर्षि ने हमें विज्ञान के सर्वोच्च पाठ का स्मरण कराया है – केवल शब्दाडम्बर से ही दुनिया को मूर्ख नहीं बनाया जा सकता।

(समाप्त)

अनासक्ति या वैराग्य

स्वामी भजनानन्द

(विवेक, वैराग्य तथा ईश्वरप्राप्ति के लिए व्याकुलता - ये किसी भी प्रकार की साधना में आधारशिला का कार्य करती हैं। वेदान्त में तो इन्हें साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपसचिव स्वामी भजनानन्द जी महाराज ने इन महत्त्वपूर्ण विषयों पर तीन लेख लिखे थे, जो संघ के आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' में क्रमशः उसके अगस्त, सितम्बर तथा अक्तूबर १९७९ के अंकों में सम्पादकीय प्रबन्धों के रूप में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की सर्वांगीणता, गहनता तथा उपयोगिता को देखते हुए, उनका अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में भी मुद्रित किया जा रहा है। - सं.)

कहते हैं कि जब एडीसन की सुप्रसिद्ध औद्योगिक प्रयोगशाला में आग लगी, तो उन्होंने अपनी पत्नी को यह सन्देश देकर बुलवाया कि 'उसे अपने जीवन में फिर कभी ऐसी भीषण आग देखने को नहीं मिलेगी'। और जब भवन तथा वर्षों की कड़ी मेहनत से बने उसके कीमती उपकरण जलकर राख हो गये, तो एडीसन ने शान्तिपूर्वक अपने एक अधिकारी से पूजी की व्यवस्था करने को कहा और स्वयं जाकर गहरी नींद में सो गये।

जब महान् नीग्रो सन्त एवं वैज्ञानिक जार्ज वाशिंग्टन कार्वर को बताया गया कि अलबामा के बैंक के दिवाला निकल जाने से वे अपने जीवन भर की बचत – सत्तर हजार डालर की रकम गवाँ चुके हैं, तो उन्होंने शान्तिपूर्वक कहा, ''मुझे लगता है कि वह किसी के काम आ गया होगा। मैं स्वय तो उसका उपयोग कर नहीं रहा था।''

अनासक्ति दर्शाने वाले इन असाधारण कार्यों से हम प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। हम कामना करते हैं कि हममें भी कुछ मात्रा में यह अनासक्ति होने से अच्छा रहता, क्योंकि हम जानते हैं कि यह जीवन कठिनाइयों तथा हताशाओं से भरा हुआ है और किंचित परिमाण में अनासक्त हुए बिना एक सन्तुलित तथा शान्तिपूर्ण जीवन बिता पाना कठिन है। यहाँ तक कि कला, खेलकूद या मनोरजन के साधन का आनन्द लेने के लिये भी हमें सुरुचिपूर्ण अनासक्ति की आवश्यकता होती है। जब व्यक्ति किसी थियेटर अथवा स्टेडियम में जाता है और वहाँ टिकट खरीदता है, तब वास्तव में वह अपने एक या दो घण्टे अनासक्ति के लिये ही खर्च करता है। इसके बाद अपनी सीट पर सुखपूर्वक बैठकर वह पूर्ण सतोष के साथ श्वेत परदे पर जघन्य हत्या-काण्ड के दृश्य अथवा किसी रोमाचक फुटबाल मैच का रसास्वादन कर सकता है। यदि इस प्रकार की घटनाओं में वह स्वयं जुड़ा होता, तब उसकी अवस्था किस प्रकार की होती!

यद्यपि अनासक्ति मनुष्य के सामान्य सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तत्त्व है, तथापि इसे आचरण में ला पाना अत्यन्त कठिन है। व्यक्तित्व के गहनतर स्तरों में ही अनासक्ति की समस्या को समझा जा सकता है, क्योंकि आसक्ति की जड़ें हमारे मन में गहराई तक गयी होती हैं। केवल साधना में ही मनुष्य का गहराई से अध्ययन किया जाता है और यहाँ पर हम साधना के रूप में ही 'अनासक्ति' पर चर्चा करेंगे। इस अर्थ में इसे 'वैराग्य' के नाम से जाना जाता है और सामान्यतः इसे त्याग का समानार्थी समझा जाता है।

विवेक और अनासक्ति

विवेक और वैराग्य या अनासक्ति – दोनों ही महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक साधनाएँ हैं। दोनों का साथ साथ चलना आवश्यक है। विवेक की प्रक्रिया को वैराग्य ही परिपूर्णता प्रदान करता है। वैराग्य के अभाव में विवेक पंगु है और वह जीव को प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं कराता। दूसरी ओर विवेक के अभाव में वैराग्य अन्धा होता है, यह जीव को बरबादी के रास्ते पर ले जाता है। जब इन दोनों साधनाओं का सामंजस्य होता है, तब ये आत्मा बन्धनों को काट डालते हैं और इस नश्वर जगत् में अपने अहं की अस्तित्व-रक्षा के लिये होनेवाले निरर्थक सघर्षों से विमुख कर देते हैं।

विवेक हमें समझ तथा दिशा प्रदान करता है, परन्तु जब तक यह इच्छाशक्ति को हिलाकर सही मार्ग पर परिचालित नहीं करता, तब तक उसकी कोई उपयोगिता नहीं। महाभारत के दुर्जेय खलनायक दुर्योधन के मुँह से निःसृत एक प्रसिद्ध उक्ति इन दोनों साधनाओं के अन्तर को स्पष्ट करती है –

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।। (प्रपन्न-गीता, ५६)

– ''मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है, पर मैं उसका आचरण करने में असमर्थ हूँ। और मैं यह भी जानता हूँ कि अधर्म क्या है, परन्तु मैं उससे निवृत्त होने में असमर्थ हूँ।'' इस उक्ति को आधुनिक मानव-मन में निहित दुविधा की एक मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में भी लिया जा सकता है। उसकी वैराग्य या अनासक्ति-क्षमता की तुलना में उसके ज्ञान तथा विवेक में काफी अधिक वृद्धि हो गयी है और इसके फलस्वरूप उसी अनुपात में उसके दुःख-कष्टों में भी वृद्धि हो गयी है।

स्वाधीनता और अनासक्ति

आध्यात्मिक जीवन और विशेषकर संन्यास-जीवन के विषय में हम प्रायः ही लोगों के मुख से सुनते हैं – ''ठीक है,

निस्सन्देह यह एक अच्छा जीवन है, परन्तु उसमें कोई स्वाधीनता नहीं होती।" स्वाधीनता से उनका क्या तात्पर्य है? क्या फिल्म देखना, उपन्यास पढ़ना और जीवन के मजे लूटना ही स्वाधीनता है? दूसरे शब्दों में क्या यह इन्द्रियों की स्वाधीनता या आसक्ति की स्वाधीनता है? उन्हें कुछ वस्तुओं तथा अनुभूतियों से आसक्ति होती है और इन आसक्तियों की स्वाधीनता को ही आम तौर पर 'स्वाधीनता' कहा जाता है।

परन्तु वास्तविक स्वाधीनता आसक्ति मे नहीं, बल्कि वैराग्य में है। जब हम अपने आपको कुछ आदतों तथा अनुभूतियों से अलग करने का प्रयास करते हैं, तभी हमें पता चलता है कि हम कितने पराधीन हैं। उत्तर भारत में एक कथा प्रचलित है, जो हमारी दशा का सटीक चित्रण करती है – एक आदमी ने नदी में कोई कम्बल जैसी वस्तु बहकर जाते हुए देखी और वह उसे पकड़ने के लिए तैर कर उसके निकट जा पहुँचा। परन्तु उसे पकड़ते ही वह खुद भी बहने लगा और सहायता के लिए गुहार लगाने लगा। तट पर स्थित लोगों ने उसे कम्बल को छोड़कर वापस लौट आने को कहा। उस व्यक्ति ने पुनः चिल्लाते हुए कहा - "मैंने तो कम्बल को छोड़ दिया है, पर कम्बल ही मुझे नहीं छोड़ता। वस्तुतः भूलवश जिसे उसने कम्बल समझ रखा था, वह एक भालू था! व्यक्तियों तथा वस्तुओं से आसक्त हो जाना आसान है, परन्तु उनसे स्वयं को छुड़ा पाना अत्यन्त कठिन है।

सामान्यतः हम सोचते हैं कि हम चाहे जो या जैसे भी करने को स्वतत्र है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान यह बताता है कि हमारी अधिकांश क्रियाएँ अचेतन-मन के द्वारा प्रेरित होती हैं। जिसे हम एक स्वतत्र कार्य समझ बैठते हैं, उसके पीछे कोई कामना छिपी हो सकती है। हमारी प्रायः सभी क्रियाएँ विभिन्न प्रकार की इच्छाओं द्वारा ही प्रेरित होती हैं। और इच्छाओं द्वारा प्रेरित इन क्रियाओं को ही हम प्रायः ही भ्रान्तिवश स्वाधीन क्रियाएँ समझ बैठते हैं।

तो क्या हम जैसा चाहें, वैसा सोचने के लिए स्वाधीन हैं? एक छोटा-सा आत्मविश्लषेण ही यह सिद्ध करने को यथेष्ट है कि विचारों की उत्पत्ति शून्य से नहीं होती। जब हम आकाश की ओर ताकते हैं और उसमें बादलों को उमड़ते-घुमड़ते देखते हैं, तो शायद हम सोच बैठते हैं कि ये निरुद्देश्य ही इधर-उधर भटक रहे हैं। परन्तु वस्तुतः उनकी गति मौसम-विज्ञान के नियमों द्वारा परिचालित होती है। इसी प्रकार हमारे मन में उठनेवाले प्रत्येक विचार के पीछे उसका कारण विद्यमान होता है। विचारों का जन्म पूर्व-संस्कारों से होता है और उनका स्फुरण मानसिक जगत् के कुछ नियमों के तहत ही होता है। निश्चित प्रकार की मानसिक अवस्थाओं के बीच मन में निश्चित प्रकार के विचारों का ही जन्म होता है। इसके अतिरिक्त कई अन्य अज्ञात शक्तियाँ, विशेषकर दूसरे व्यक्तियों की विचार-तरंगें भी हमारे मन को प्रभावित करती रहती हैं। तो फिर हममें यथेच्छा सोचने की स्वाधीनता ही कहाँ रही?

ध्यान का अभ्यास करने के लिये हममें आध्यात्मिक विषयों पर चिन्तन करने तथा उस चिन्तन को चेतना के एक विशेष केन्द्र की ओर प्रवाहित करने की स्वाधीनता होनी चाहिए। दूसरी ओर ध्यान आकृष्ट करनेवाले निकृष्ट विचारों से स्वयं को अलग करने से ही यह आन्तरिक स्वाधीनता प्राप्त होती है। इसी के लिए प्रयास करने पर हम समझ सकते हैं कि हम कितना अधिक अपने पूर्व-सस्कारों द्वारा परिचालित हो रहे हैं। इन सस्कारों की पकड़ से निकलने में ही सच्ची स्वाधीनता निहित है। जब तक हमें कुछ परिमाण में यह स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक ध्यान का अभ्यास कठिन है। इस प्रकार ध्यानमय जीवन में प्रतिष्ठित होने के लिए वैराग्य या अनासक्ति एक अपरिहार्य प्राथमिक साधना है।

सद्गुण और अनासक्ति

एक केवल नैतिक व्यक्ति और एक आध्यात्मिक व्यक्ति के बीच क्या भेद है?

प्रथमतः तो मात्र नैतिक मनुष्य अस्तित्व या चेतना के उच्चतर केन्द्र की खोज करने को स्वाधीन नहीं है। वह मात्र एक अच्छे जीवन से सन्तुष्ट प्रतीत होता है, पर सत्य तो यह है कि वह जितना समझता या स्वीकार करता है, उससे कहीं अधिक अपने अच्छे विचारों व कार्यों से आसक्त है। स्वामी विवेकानन्द पूछते हैं, "जब तक तुम मुक्त नहीं होते, तब तक एक मशीन के सिवा तुम और क्या हो? क्या तुम्हें इस बात पर अभिमान होना चाहिए कि तुम अच्छे मनुष्य हो? बिल्कुल नहीं। तुम अच्छे इसलिए हो कि तुम अन्यथा नहीं हो सकते। दूसरा मनुष्य इसलिए बुरा है कि अन्यथा होना उसके बस की बात नहीं।"[१] अच्छाई तथा बुराई संस्कारों पर निर्भर करती है। दुष्ट व्यक्ति वह है, जो बुरे सस्कारों द्वारा नियंत्रित होता है।

एक जीवन जो पूर्णतया सस्कारों द्वारा नियंत्रित हो, चाहे वे भले ही संस्कार क्यों न हों, वह स्वाधीन नहीं है। वह उच्चतर अनुभूति की खोज के लिए स्वाधीन नहीं है। चेतना के विभिन्न आयाम होते हैं और चेतना के निम्नतर केन्द्रों में स्थित रहनेवाला जीवन अविकसित तथा अपूर्ण है। इस तरह का जीवन अध्यात्म की अपूर्व अनुभूतियों तथा अपने मानव-भाइयों की सेवा के आनन्द से वंचित रह जाता है।

१. विवेकानन्द साहित्य, भाग ३, पृ. १२०

द्वितीयतः, केवल सद्‌गुणी व्यक्ति दुख एवं भय से मुक्त नहीं हो सकता। पहले तो चेतना के निम्नतर केन्द्र में रहने वाला व्यक्ति कामनाओं से मुक्त नहीं हो सकता, चाहे वे भली कामनाएँ ही क्यों न हों। फिर उच्चतर चेतना-केन्द्रों से जुड़े आध्यात्मिक आनन्द तक पहुँच न होने के कारण, उसे अपनी कामनाओं की पूर्ति हेतु पूरी तौर से मनोवैज्ञानिक-सामाजिक परिवेश पर निर्भर रहना पड़ता है। चूंकि यह परिवेश सतत बदलता रहता है और उसका इस पर कोई नियत्रण नहीं होता, उसकी अधिकाश इच्छाएँ अपूर्ण ही रह जाती हैं। अतः वह दुख एव हताशा से अप्रभावित नहीं रह पाता। सच तो यह है कि भले लोग अधिक मृदु-स्वभाव तथा संवेदनशील होने के कारण दुर्जनों की अपेक्षा अधिक कष्ट भोगते हैं।

फिर परम्परागत नैतिकता भी भय से मुक्ति की गारंटी नहीं दे सकती। एक सुप्रसिद्ध सस्कृत श्लोक में कहा गया है –

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥[२]

- मनुष्य के लिए इस ससार में प्रत्येक वस्तु भय से परिपूर्ण है - भोग में रोग का, उच्च कुल में पतन का, धन में राजा का, मान में उपहास का, सत्ता में शत्रुओं का, विद्वत्ता में कुतर्कियों का, सद्‌गुणों में दुर्जनों का और शरीर में मृत्यु का भय बना रहता है; एकमात्र वैराग्य ही निर्भयता प्रदान करता है।

भय का कारण जीवात्मा को जकड़े हुए है, जिसके विषय में पतजलि कहते हैं कि यह विद्वान् एव बुद्धिमान लोगों में भी पाया जाता है।[३] इस पकड़ का कारण है अज्ञान। केवल अच्छे आचरण से ही अज्ञान दूर नहीं हो सकता। उच्चतर आत्म-चेतना की अनुभूति से उद्‌भूत सच्चा ज्ञान ही मनुष्य को भय से मुक्त कर सकता है। जब राजा जनक को सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि हो गयी, तब उनके गुरु याज्ञवल्क्य जी ने कहा – "हे जनक, तुमने भयमुक्त अवस्था प्राप्त कर ली है।"[४]

इससे यह अब स्पष्ट है कि नैतिकता अपने आप में जीवन का लक्ष्य नहीं है। भले तथा पुण्यमय जीवन का महत्त्व इसी में है कि यह आध्यात्मिक जीवन के निर्माण हेतु एक सुदृढ़ नींव प्रदान करता है। सद्‌गुण तथा अच्छाई व्यक्ति को बुराई अधम प्रवृत्तियों से मुक्त करते हैं। परन्तु कभी कभी, विशेषकर साधना की उन्नत अवस्थाओं में प्रचलित शिष्टाचार के पालन पर अधिक बल देना और आत्मसन्तोष तथा छद्मलज्जा का दृष्टिकोण उन्नति के मार्ग में बाधक बन जाता है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि शील या सदाचरण भी आत्मा को बन्धन में डालनेवाले अष्टपाशों में से एक है।

साधक को सदाचरण और अच्छे तथा निर्दोष विचारों से भी अपने को अलग रखना सीखना चाहिये, क्योंकि उसका भलाई तथा बुराई – दोनों के परे स्थित उच्चतर स्वाधीनता ही उसका लक्ष्य है। परन्तु प्रायः होता यह है कि दुष्ट लोग अपने दुर्गुणों से जितने आसक्त होते हैं, सद्‌गुणी व्यक्ति उससे भी अधिक अपने सद्‌गुणों में आसक्त होते हैं। बुद्ध और ईसा को विद्वानों तथा उच्च वर्ग के लोगों की तुलना में सामाजिक रूप से निर्वासितों, पापियों तथा पतिताओं को ईश्वर की ओर मोड़ने में कहीं अधिक आसानी हुई। श्रीरामकृष्ण के लिए भी उन्हें पागल समझनेवाले कट्टरपन्थियों की तुलना में मद्यप गिरीश का जीवन बदलना कहीं अधिक आसान था।

प्रेम और अनासक्ति

वाल्टेयर की सुप्रसिद्ध उक्ति है – "हे प्रभो, मुझे अपने मित्रों से बचाओ, शत्रुओं से निपटना तो मैं स्वयं जानता हूँ।" वैसे तो यह बात हँसी में कही गयी थी, पर इसमें सत्य का कण विद्यमान है। हमारी बहुत-सी कठिनाइयाँ व पीड़ाएँ अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के प्रति हमारी आसक्ति के कारण ही उत्पन्न होती हैं। उन्हीं के लिये हम असंख्य कठिनाइयों, बलिदानों तथा कष्टों को अंगीकार करते हैं। वे जब हमारे साथ यथेच्छा आचरण करने लगते हैं, तो हम उनका विरोध नहीं कर पाते और उनके द्वारा अपनी अवहेलना होने पर हम काफी व्यथित तथा दुखी हो जाते हैं। हमारी कठिनाइयों में और भी वृद्धि तब हो जाती है, जब दूसरों के प्रति हमारा मोह हमारे कर्तव्य-पालन में बाधक बन जाता है, जैसा कि महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन के साथ हुआ था।

तो फिर हमारे लिए उपाय क्या है? प्रेम और आसक्ति के इस द्वन्द्व को हम कैसे सुलझाएँ? इस समस्या के समाधान हेतु भगवद्‌गीता हमें दो उपाय बताती है – सन्यास और त्याग। बाह्य सम्बन्धों तथा कर्मों के पूर्ण त्याग को संन्यास कहते हैं। इसका अर्थ है समस्त मानवीय सम्बन्धों को तोड़कर और सारे सामाजिक उत्तरदायित्वों के परे जाकर संन्यासी बन जाना। स्पष्ट रूप से यह एक चरम कदम है, जिसे केवल कुछ लोग ही उठा पाते हैं। बाकी लोगों के लिये गीता एक दूसरा – त्याग का मार्ग बताती है, जिसका अर्थ है अपने किए हुए कर्मों के फल का त्याग। वैसे इसका अभ्यास सरल प्रतीत हो सकता है, पर यह उन परिपक्व लोगों के द्वारा ही ठीक ठीक पालित हो सकता है, जिन्होंने प्रेम का सच्चा अर्थ समझ लिया है।

---

२. भर्तृहरि कृत वैराग्यशतकम्, ३१ ३. पतंजलि-योगसूत्र, २.९
४. अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। - बृहदारण्यक उपनिषत् ४.२.४

प्रेम सद्‌गुणों में सर्वोत्तम है। ईसा ने इसे ईश्वर का ही प्रतिरूप माना है। निश्चय ही यह एक सार्वभौमिक योजक तत्त्व है, जो जीवन की गति को सचालित करता है। मानवीय स्तर पर यह सारे सम्बन्धों को पुनीत करता है तथा सामाजिक जीवन में समरसता तथा एकता स्थापित करता है। यह व्यक्ति के जीवन को समृद्ध तथा उत्कृष्ट बनाता है और उसके कार्यों को तात्पर्य तथा उद्देश्य प्रदान करता है। जीवन के किसी भी स्तर की समस्याओं के समाधान की किसी भी योजना में, जीवन के इतने उदात्त तथा आवश्यक तत्त्व की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "ससार में ऐसे भी मनुष्य हैं, जो किसी वस्तु द्वारा कभी आकृष्ट नहीं होते। वे कभी प्रेम नहीं कर सकते, वे कठोर-हृदय और निर्मम होते हैं, दुनिया के अधिकाश दुःखों से वे मुक्त रहते हैं। परन्तु दीवाल भी तो कभी किसी दुःख का अनुभव नहीं करती, दीवाल भी तो कभी प्यार नहीं करती और न उसे कोई कष्ट होता है। पर दीवाल आखिर दीवाल ही है! दीवाल बनने से तो आसक्त होना और बँध जाना निश्चय ही अच्छा है। ... हम यह नहीं चाहते। यह तो दुर्बलता है, मृत्यु है।"[५]

प्रश्न उठता है कि यदि प्रेम सर्वोत्तम सद्‌गुण है, तो फिर कैसे यह दुःखों का भी कारण हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि सामान्यतः जिसे हम प्रेम कहते हैं, वह सच्चा प्रेम नहीं है। बहुधा इसमें प्रेम के साथ स्वार्थ, लोभ तथा विषय-सुख की भावना मिश्रित रहती है। "हम कैसे फँस जाते हैं?" यह पूछने के बाद उत्तर में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "उससे नहीं जिसे हम देते हैं, वरन् उससे जिसे हम पाने की अपेक्षा करते हैं। हमारे प्रेम के बदले हमें दुःख मिलता है; इसलिए नहीं कि हम प्रेम करते हैं, वरन् इसलिए कि बदले में हम प्रेम चाहते हैं। जहाँ चाह नहीं है, वहाँ दुःख भी नहीं है। कामना, चाह – यही दुःखों की जननी है।"[६] सच्चा प्रेम बदले में कोई अपेक्षा नहीं रखता और व्यक्ति को स्वार्थपरता से मुक्त कर देता है।

श्रीरामकृष्ण अपवित्र प्रेम को माया और पवित्र प्रेम को दया कहा करते थे। उनके मतानुसार "दया और माया में बड़ा अन्तर है। दया अच्छी है, माया अच्छी नहीं। माया का अर्थ है – अपनी स्त्री, पुत्र, भाई, बहन, भतीजा, भानजा, माँ, बाप – इन्हीं से प्रेम। दया अर्थात् सब प्राणियों से समान प्रेम।"[७] और "माया से आदमी बँध जाता है, ईश्वर से विमुख हो जाता है। दया से ईश्वर की प्राप्ति होती है।"[८]

५. विवेकानन्द साहित्य, भाग ९, पृ. १७७ ६. वही, पृ. १७८

७. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, नया संस्करण, खण्ड १, पृ. २६१

८. वही, पृ. ५२४

हमें सच्चे वैराग्य या अनासक्ति का तात्पर्य जान लेना चाहिए। सच्ची अनासक्ति का अर्थ है – अपने निम्न स्तर के अह से अनासक्त होना। सम्भव है कि हम वैराग्य या अनासक्ति के नाम पर दूसरों की भावनाओं के प्रति निर्मम तथा संवेदनहीन हो जायँ। ऐसे लोग, दूसरों से अनासक्त रहकर भी, अपने ही निम्नतर अह के साथ गहराई से जुड़े होते हैं। सम्भव है कि हम अनासक्ति के नाम पर दूसरों के प्रति अरुचि तथा घृणा ही पालने लग जायँ। परन्तु घृणा भी आसक्ति की ही नकारात्मक अभिव्यक्ति है। जहाँ घृणा है, वहाँ अनासक्ति हो ही नहीं सकती। सच्चा अनासक्त व्यक्ति न तो घृणा का अनुभव करता है और न लगाव का।

सच्ची अनासक्ति शुद्ध निस्वार्थ प्रेम तथा दया को दूर नहीं करती। सच तो यह है कि अनासक्त आध्यात्मिक लोग ही दूसरों से सच्चा प्रेम कर सकते हैं। बाकी सभी लोग अपने आप से ही प्रेम करते हैं। अनासक्त व्यक्ति का दूसरों के प्रति दृष्टिकोण, उन लोगों के उसके अपने प्रति दृष्टिकोण पर निर्भर नहीं करता। उसे तो केवल दूसरों की भलाई तथा सुख से ही मतलब है। इसके अतिरिक्त वह यह भी देखता है कि कोई उसके प्रति आसक्त न हो जाये और वह सभी के मन को ईश्वर या उनके जीवन के उच्चतर लक्ष्यों की ओर मोड़ देता है।

अनासक्ति का मनोविज्ञान

यदि हम अनासक्ति की मानसिक प्रक्रिया को जान लें, तो इसका अभ्यास सहज हो जाता है। जब हम आसक्ति या अनासक्ति की बात करते हैं, तो यह हमारे व्यक्तित्व के किस पहलू से सम्बन्ध रखता है? निश्चय ही हमारे भौतिक शरीर से नहीं, क्योंकि इसकी सर्वदा स्वतत्र सत्ता बनी रहती है, जो किसी वस्तु से जुड़ नहीं सकती। तो फिर क्या यह मन से सम्बन्धित है? परन्तु मन तो मानसिक जीवन के अनेक पक्षों के लिए प्रयुक्त होनेवाला एक अस्पष्ट शब्द है। यदि हम सावधानीपूर्वक अपने विचारों तथा कार्यों का विश्लेषण करें, तो पायेंगे कि आसक्ति और अनासक्ति इच्छा से जुड़ी है। इच्छा ही बन्धन में है और इच्छा को ही अनासक्त होना है।

इच्छा के विषय में लोगों में अस्पष्ट तथा विचित्र धारणाएँ हैं। जर्मनी के महान् प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक वुट (wundt) अनेक प्रयोगों के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सामान्यतः जिसे हम इच्छा कहते हैं, वह सहज-प्रवृत्ति (instinct) मात्र है। कोई व्यक्ति सुबह उठने का निर्णय लेकर तदनुसार घड़ी में अलार्म लगाता है, परन्तु अलार्म बजने पर भी उसे उठने में कठिनाई होती है। ऐसा बारम्बार होने पर वह सोचता है कि उसमें उठने की 'इच्छा' की कमी है, पर मान लो उसे सबेरे की

ट्रेन पकडनी है या किसी परीक्षा में भाग लेना है, तब तो वह बिना अलार्म के ही और कभी कभी तो समय के पूर्व ही उठ जाता है। इस दृष्टान्त में एक (भय की) प्रवृत्ति ने दूसरी (आलस्य की) प्रवृत्ति पर विजय पा ली। हमारी अधिकाश क्रियाएँ सहज प्रवृत्ति (instinct) के द्वारा ही नियंत्रित होती हैं, जो मोटे तौर पर हिन्दू मनोविज्ञान के सस्कारों के तुल्य हैं। सच्ची इच्छा (will) शायद ही कभी क्रियाशील हो पाती है।

वास्तविक इच्छा क्या है? सस्कृत में सामान्यतः 'इच्छा' कहे गये इस शब्द के लिए गीता एक अन्य शब्द 'धृति' का उपयोग करती है। हिन्दू मनोविज्ञान के अनुसार 'इच्छा' कोई स्वतत्र इकाई नहीं है। यह 'मैं'-चेतना से अविभाज्य रूप से जुडी है। शकराचार्य कहते हैं – 'इच्छा' बुद्धि की ही एक अन्य क्रिया है।''[९] इस बुद्धि का ही स्थैतिक पहलू 'अहं'-चेतना और गत्यात्मक पहलू इच्छा है। अह-चेतना की गति या संकेन्द्रण को 'इच्छा' कहा जा सकता है। जैसे शुद्ध चैतन्य विचारों तथा इन्द्रियों से पृथक् है, वैसे ही 'इच्छा' भी मूलतः उनसे अलग है। परन्तु हमारी अधिकाश सामान्य कामनाओं तथा क्रियाओं के साथ 'इच्छा' इतनी अधिक गहराई के साथ तादात्म्य का अनुभव करती है कि हमारे लिए इच्छा तथा सहज-प्रवृत्ति के बीच भेद करना कठिन हो जाता है।

यह तादात्म्य कैसे आता है? प्राण या ब्रह्माण्डीय ऊर्जा निरन्तर हमारे मन के सस्कारों को सक्रिय करती रहती है और इन्हीं में से कुछ के अकुरण को हम कामना या वासना कहते हैं। इसीलिये गीता कहती है - ''यह काम तथा क्रोध रजस् से उत्पन्न होता है।''[१०] जहाँ रजस् से तात्पर्य ब्रह्माडीय ऊर्जा से है। इस प्रकार हमारे भीतर सैकड़ों कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु एक समय में हम उनमें से केवल कुछ के प्रति ही सचेत होते हैं। किसी कामना का उदय होना मात्र ही दुखदायी नहीं है। परेशानी तो यह तब पैदा करती है, जब इच्छा जाकर इससे जुड़ जाती है। केवल तभी वह कामना 'मैं' के साथ सयुक्त हो जाती है। तब 'इच्छा' सकल्प में परिणत हो जाती है। चाहे शारीरिक हो या मानसिक, प्रत्येक क्रिया के पीछे एक सकल्प होता है। यदि 'इच्छा' उससे न जुड़ी हो, तो कामना हमें प्रभावित नहीं कर सकती। यह चेतना में कुछ काल तक रहने के बाद विलीन हो जाती है। महाभारत के एक बहु-उद्धरित श्लोक में कहा गया है – ''हे कामना, मैंने तेरे मूल कारण को समझ लिया है। तू सकल्प से उत्पन्न होती है। यदि मैं कोई सकल्प न करूँ, तो तू समूल नष्ट हो जायेगी।''[११] गीता भी सकल्प द्वारा कामनाओं की उत्पत्ति बताती है।''[१२]

प्रतिदिन हम बहुत-से सकल्प करते हैं तथा उन्हें पूरा करने के प्रयास में लगे रहते हैं और यही हमारी आसक्ति तथा उससे जुड़ी हुई समस्याओं का मूल कारण है। सकल्पों को बनने से रोकने के लिए हमें पुराने सस्कारों से उत्पन्न होनेवाली कामनाओं से 'इच्छा' को अलग करना होगा। वैराग्य या अनासक्ति का वास्तविक तात्पर्य यही है। ऐसा होने पर हम अपने विचारों, कामनाओं तथा क्रियाओं से प्रभावित हुए बिना उनके साक्षी मात्र रह जाते हैं।

चूँकि प्राण की सक्रियता के कारण ही सस्कारों का अकुरित होकर कामनाओं में रूपान्तरण होता है, अतः प्राणायाम के अभ्यास से कामनाओं की उत्पत्ति को कुछ काल के लिए रोका जा सकता है। प्राणायाम सस्कारों को निष्क्रिय बनाता है। कुछ मादक पदार्थों का सेवन भी मन के भौतिक यत्र रूप मस्तिष्क के कुछ केन्द्रों को निष्क्रिय करके एक प्रकार का सुखाभास उपजाकर ऐसा ही प्रभाव उत्पन्न करता है। परन्तु प्राणायाम तथा मादक पदार्थ – दोनों ही 'इच्छा' को प्रभावित नहीं कर पाते और जब तक 'इच्छा' विकृत, अनियंत्रित और आसक्त है, तब तक मनुष्य कामनाओं से मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि जब प्राणायाम या मादक द्रव्यों का असर दूर होता है, तो सस्कार पुनः और शायद दुगने वेग के साथ अकुरित हो उठते हैं। केवल उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों के आलोक से ही सस्कारों का समूल नाश किया जा सकता है। जब तक ऐसा न हो, तब तक विवेक-विचार तथा ईश्वर के लिए व्याकुलता या प्रेम के द्वारा 'इच्छा' को सस्कारों से अलग करना होगा। सस्कारों को जब 'इच्छा' से कोई सहारा नहीं मिलता, तो वे क्रमशः निष्क्रिय हो जाती हैं, इसी को योगिगण 'तनु' अवस्था कहते हैं। ऐसा होने पर ही कामनाएँ हमें तग करना बन्द कर देती हैं।

योग और वियोग

आचार्य शकर कहते हैं – ''वस्तुतः वियोग ही योग है, क्योंकि इस अवस्था में योगी सभी कष्टों से मुक्त हो जाता है।''[१३] दूसरे शब्दों में वैराग्य या अनासक्ति के बिना योग की कल्पना ही नहीं की जा सकती। साधारण चिन्तन को ध्यान नहीं कहा जा सकता। यह पूर्ण चेतना के साथ एक निश्चित आध्यात्मिक केन्द्र में किसी वस्तु पर 'इच्छा' को केन्द्रित

९. धृतिरपि वृत्तिविशेष एव बुद्धेः। (शंकराचार्यकृत गीताभाष्य, १८/३०)
१०. गीता, ३/३७

११. काम जानामि ते मूल संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां सकल्पयिष्यामि समूलस्त्व विनङ्क्ष्यसि॥ (शान्ति. १७७/२५)
१२. संकल्पप्रभवान् कामान्। (गीता, ६/२४)
१३. योगमिति मन्यन्ते नियोगमेव सन्तम्। सर्वानर्थ-संयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः। (शंकराचार्य कृत कठोपनिषद् भाष्य २/३/११)

करना है। इसके लिए पहले इच्छा को कामनाओं तथा विचारों से अलग करना होगा। तदुपरान्त, इच्छा की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करना होगा। और तब, इस एकीकृत इच्छा को आध्यात्मिक केन्द्र की ओर उन्मुख करना होगा।

इन कदमों में से पहला ही सर्वाधिक कठिन है। इच्छा को एक बार पृथक् कर लेने के बाद उसे किसी भी वस्तु की ओर मोड़ा जा सकता है। कामनाओं तथा इन्द्रियों के अधीन हुई इच्छा में कोई शक्ति नहीं होती। पर जब इसे पृथक् तथा एकाग्र किया जाता है, तब यह लेसर-किरणों के समान महाशक्ति प्राप्त कर लेती है। यही वह मुक्त तथा सशक्त इच्छा है, जो योगी की सम्पदा है। इच्छा जब तक कामनाओं से जुड़ी है, तब तक इच्छाशक्ति को बढ़ाने का कोई भी प्रयास केवल कामनाओं तथा सहज-प्रवृत्ति को ही सबल करेगा। केवल अनासक्ति के द्वारा ही सच्ची इच्छाशक्ति प्राप्त होती है।

वैराग्य या अनासक्ति ही सभी प्रकार के योगों की साधना की एक अपरिहार्य प्रारम्भिक तैयारी है। अनासक्ति तथा कर्म से कर्मयोग होता है। अनासक्ति तथा प्रेम से भक्तियोग होता है। अनासक्ति तथा ज्ञान से ज्ञानयोग होता है। केवल कल्पना से ही अनासक्ति का अभ्यास नहीं हो सकता। इसका सक्रिय रूप से अभ्यास करके दैनन्दिन जीवन में परीक्षण करना होगा। अतः दूसरे योगों को अपनाने के पूर्व सर्वप्रथम कर्मयोग का ही अभ्यास करना होगा। मनुष्यों के प्रति प्रेम और ईश्वर के प्रति प्रेम में अन्तर यह है कि पहला आसक्ति पर आधारित है, जबकि दूसरा अनासक्ति पर। इच्छा को शुद्ध करके सगुण ईश्वर की ओर उन्मुख करने को ही भक्ति कहते हैं।

वैराग्य या अनासक्ति की अवस्थाएँ

अनासक्ति एक लम्बी छलांग के समान नहीं है; यह विभिन्न स्तरों के रूप में आती है। यह सत्य है कि कुछ लोगों के जीवन में सहसा ही 'रूपान्तरण' आकर एक झटके के साथ उनकी आत्मा को संसार की पकड़ से दूर ले जाता है, परन्तु ऐसे मामलों में भी इस प्रक्रिया को पूरा होने में कुछ समय लग ही जाता है। हम ज्यों ज्यों अपने आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करते जाते हैं, त्यों त्यों हमारी अनासक्ति की धारणा में भी परिवर्तन होता जाता है। अनासक्ति का विकास कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है और ये अवस्थाएँ हमारी चेतना की अभिव्यक्ति के परिमाण का संकेत देती हैं।

योगियों के मतानुसार वैराग्य या अनासक्ति चार स्तरों से गुजरती है। (प्रयास पर आधारित) प्रथम स्तर को 'यतमान' कहते हैं, जिसमें नव-साधक विवेक, तप तथा शरणागति के अभ्यास द्वारा कामनाओं से मुक्त होने का प्रयास करता है। (भेद पर आधारित) 'व्यतिरेकी' नामक दूसरे स्तर में साधक को यह बोध होता है कि 'मेरे इतने पूर्व-संस्कार नष्ट हो गये हैं और अब केवल इतने ही बचे हैं। (इन्द्रिय पर आधारित) 'एकेन्द्रिय' नामक तीसरे स्तर में सभी बाह्य इन्द्रियाँ नियंत्रण में आ जाती हैं, केवल आन्तरिक इन्द्रिय (मन) ही क्रियाशील रह जाता है। तब पूर्व अनुभूतियों की स्मृति मात्र ही बची रहती है। तब इच्छा कामनाओं की दासी नहीं रह जाती, परन्तु अब भी यह उच्चतर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर पूरी तौर से उन्मुख नहीं है। यह संयम की एक अवस्था है, जिसमें साधक इन्द्रिय-सुखों से मुक्त होकर आत्मसंयम के अर्थात् शम-सुख की अनुभूति करता है। अब ध्यान स्थिर तथा निष्प्रयास हो जाता है। (विजय पर आधारित) 'वशीकार' नामक चौथी अवस्था में इच्छा पूरी तौर से अलग होकर मुक्त रूप से विचरण करती है। अब योगी द्वारा उसकी इच्छानुसार इसे चाहे जैसे लगाया जा सकता है। इसी अवस्था में ध्यान परिपक्व होकर समाधि में परिणत हो जाता है।[१४]

मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ होने के कारण ये स्तर सभी योगों और सभी आध्यात्मिक पथों में सामान्य हैं। आज के दिनों में, जबकि ध्यान आध्यात्मिक प्रविधि के साथ-ही-साथ एक चिकित्सा-पद्धति के रूप में भी लोकप्रिय होता जा रहा है, सम्भव है कि इन अवस्थाओं पर ध्यान न दिया जाय, परन्तु इनसे होकर गुजरे बिना एक स्थिर ध्यानमय जीवन बनाये रखना और कोई सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति या उपलब्धि कर पाना कठिन है।

सौ साल पूर्व के अपने पूर्वजों की तुलना में आधुनिक मानव को इस अनासक्ति के अभ्यास की कहीं अधिक जरूरत है, क्योंकि आज के जगत् में नाना प्रकार के मन-बहलाव की तथा प्रलोभित करनेवाली वस्तुएँ बिखरी पड़ी हैं। आधुनिक जीवन इतना जटिल तथा तनावपूर्ण होता जा रहा है कि कुछ परिमाण में अनासक्ति का सहारा लिए बिना एक सामान्य शान्तिपूर्ण सांसारिक जीवन बिताना भी कठिन हो गया है। और साधकों के लिये तो अनासक्ति या वैराग्य एक जीवन-शैली ही बन जानी चाहिये। गीता में उसके लिए मार्गदर्शक-सिद्धान्त निर्धारित कर दिया गया है – "हे अर्जुन, जैसे एक अज्ञानी व्यक्ति कर्म में आसक्त होता है, वैसे ही ज्ञानी को भी लोक कल्याणार्थ अनासक्तिपूर्वक कर्म करना चाहिए।"[१५]

१४. देखिए योगसूत्र (१. १५) पर वाचस्पति मिश्र की टीका। रामानुज भी अपने गीताभाष्य (२.५५-५८) में ऐसी ही अवस्थाओं का वर्णन करते है और वेदान्त-देशिक अपनी टीका में उन्हें उपरोक्त चार स्तरों के रूप मे निर्धारित करते हैं।
१५. गीता, ३/२५

रामकृष्ण मिशन का वार्षिक प्रतिवेदन
(१९९९-२०००)

रामकृष्ण मिशन की ९१ वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में १० दिसम्बर २००० को अपराह्न में सम्पन्न हुई।

इस वर्ष की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं - इन्दौर में एक नये शाखा-केन्द्र का खोला जाना। आसनसोल में एक शैक्षणिक परिसर तथा सारगाछी में एक नये विद्यालय-भवन का शिलान्यास, रामहरिपुर में एक नये विद्यालय-भवन, नारायणपुर में एक सभागृह तथा देवघर में एक विद्यालय-भवन का उद्घाटन।

रामकृष्ण मठ के अन्तर्गत चेन्नई तथा लखनऊ केन्द्रों में नये श्रीरामकृष्ण मन्दिर का लोकार्पण किया गया तथा हैदराबाद केन्द्र में Vivekananda Institute of Human Excellence (विवेकानन्द मानवीय उत्कृष्टता सस्थान) का शिलान्यास किया गया। चेन्नई के विवेकानन्द इल्लम में Vivekananda Cultural Heritage of India (विवेकानन्द भारतीय सास्कृतिक विरासत) नामक प्रदर्शनी के प्रथम चरण का उद्घाटन किया गया। साथ ही केरल के विटिला (एर्णाकुलम) में एक नये केन्द्र की शुरुआत की गयी।

इस वर्ष के दौरान करीब ५ करोड़ २८ लाख रुपये खर्च करके मिशन ने देश के विभिन्न भागों में बृहत् पैमाने पर **राहत तथा पुनर्वास** के कार्य सम्पन्न किये, जिससे ८०० गाँवों के लगभग ४ लाख लोग लाभान्वित हुए। उड़ीसा के तूफान से भारी क्षतिग्रस्त दो इलाकों में एक विराट् पुनर्वास प्रकल्प आरम्भ किया गया।

निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति तथा वृद्ध-रोगी एव असहाय लोगों को **आर्थिक सहायता** आदि कल्याण-कार्यों में लगभग २ करोड़ १९ लाख रुपये व्यय हुए।

चिकित्सा-सेवा · ९ अस्पतालों तथा १०८ चिकित्सा-केन्द्रों (जिनमें चल-चिकित्सा-इकाइयाँ भी शामिल हैं) के द्वारा करीब ५१ लाख रोगियों को चिकित्सा-सेवा प्रदान की गयी। इस मद में कुल २३ करोड़ ३३ लाख रुपये खर्च हुए।

शैक्षणिक कार्य · हमारे शिक्षा-संस्थानों के द्वारा, बालविहार से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक के १ लाख ७ हजार विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की गयी, जिनमें ३१ हजार से भी अधिक छात्राएँ थीं। शिक्षा-कार्य में कुल ६८ करोड़ ६० लाख व्यय हुए।

८ करोड़ ८८ लाख रुपयों की लागत पर कई ग्रामीण तथा आदिवासी विकास-योजनाओं का भी क्रियान्वयन किया गया।

अपने सदस्यों तथा मित्रों के हार्दिक तथा निरन्तर सहयोग के लिए इस अवसर पर हम उनके प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता तथा धन्यवाद व्यक्त करते हैं।

१० दिसम्बर २००० ई. *स्वामी स्मरणानन्द*

महासचिव

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी
शताब्दी समारोह का संक्षिप्त विवरण

विगत १० से १४ नवम्बर के दौरान सेवाश्रम की शताब्दी मनायी गयी। १० तारीख को प्रातःकाल अस्पताल के रोगियों की नारायण-पूजा के साथ यह समारोह आरम्भ हुआ। पाँच दिनों के इस कार्यक्रम में दो सार्वजनिक सभाएँ भी हुईं। नगर के विभिन्न स्कूलों के २५०० छात्र-छात्राओं द्वारा एक भव्य मार्च-पास्ट हुआ और उसके बाद, भिन्न भिन्न दिनों में, निवेदिता शिक्षासदन के छात्रों द्वारा स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर एक हिन्दी नाटक का मंचन, कोलकाता की एक पार्टी द्वारा 'यात्रा' और अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये। १० तारीख को प्रातः, रामकृष्ण मठ व मिशन के उपाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज ने 'बाह्यरोगी विभाग' के प्रस्तावित भवन का शिलान्यास किया।

१० तारीख को आयोजित सार्वजनिक सभा में सेवाश्रम के सचिव ने माननीय अतिथियों तथा श्रोतृवृन्द का स्वागत करते हुए संक्षेप में बताया कि एक शताब्दी पूर्व किस प्रकार यह सेवाश्रम आरम्भ हुआ था। मुख्य अतिथि के रूप में उत्तरप्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री सूरजभान ने सेवाश्रम के सौ वर्ष पूरे होने के प्रतीक स्वरूप सौ दीप जलाए। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे सघ के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी आत्मास्थानन्दजी महाराज ने सेवाश्रम की शताब्दी-स्मारिका का विमोचन किया। इस अवसर पर महासचिव श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी और तीन अन्य सन्यासियों — दिल्ली आश्रम के प्रमुख स्वामी गोकुलानन्द, रायपुर आश्रम के प्रमुख स्वामी सत्यरूपानन्द तथा कलकत्ते की 'उद्बोधन' पत्रिका के सम्पादक स्वामी पूर्णात्मानन्द के व्याख्यान हुए। सभी वक्ताओं ने स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित सेवादर्श पर अपने अपने विचार व्यक्त करते हुए इसके प्रचार पर बल दिया।

इस अवसर पर महासचिव ने सेवाश्रम के अस्पताल को पिछले पचास वर्षों से निरन्तर तथा अवैतनिक चिकित्सा सेवा प्रदान करनेवाले डॉ. बी.आर. ठुकराल को सम्मानित किया।

१३ तारीख को हुई दूसरी सार्वजनिक सभा में, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. वाई.सी. सिंहाद्रि मुख्य अतिथि थे और इसकी अध्यक्षता हमारे चण्डीगढ़ आश्रम के प्रमुख स्वामी पीताम्बरानन्द न की। इस दिन 'वेदान्त-केसरी' के सम्पादक स्वामी ब्रह्मेशानन्द, हमारे लखनऊ केन्द्र के प्रमुख स्वामी मुक्तिनाथानन्द और महान् सेवाभावी श्री कृष्ण गोपाल के भाषण हुए। दोनों ही सभाओं तथा अन्य कार्यक्रमों में काफी लोग सम्मिलित हुए। दि. ११ को महासचिव महाराज ने वाराणसी की २२५ निर्धन विधवाओं के बीच कम्बल, खाद्यसामग्री तथा नगद राशि का वितरण किया। १२ को नारायण-सेवा हुई, जिसमें २५०० नारायणों को भोजन कराया गया। विभिन्न केन्द्रों से लगभग ५० संन्यासी और प्रायः १५०० भक्तों तथा मित्रों ने कार्यक्रम में भाग लिया। ❑